।। श्रीमते रामानुजाय नमः।।

वैदिक-वाणी

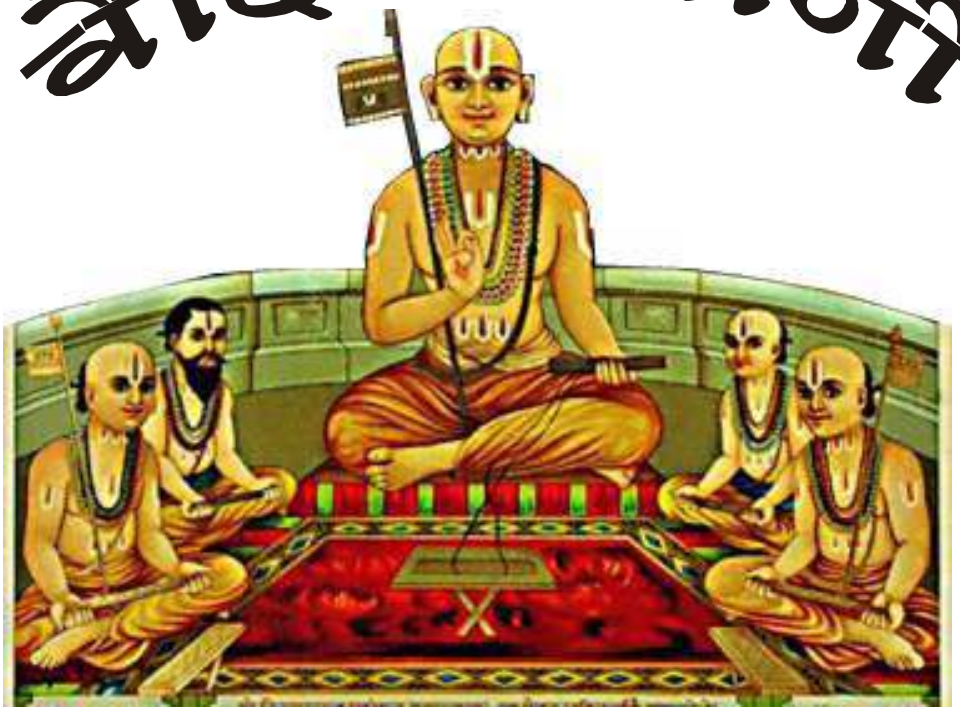

वर्ष- २५ सन्- २०१३ ई०	श्री पराङ्कुश संस्कृत संस्कृति संरक्षा परिषद् हुलासगंज, जहानाबाद (बिहार)	अंक- ४ रामानुजाब्द ९९६ त्रैमासिक प्रकाशन

०।

०।।

अर्थात् ०।।

विषयानुक्रमणिका

आश्रम परिवार की ओर से प्रकाशित

****

क्रम सं०	विषय	पृ०सं०
१.	वैदिक-वाणी	३
२.	सन्त आलवार	
३.	भगवत्सरणागति से ही होती है मुक्ति	
४.	ध्यान दें जपविधि पर	
५.	एक ही ब्रह्म कार्य और कारण दोनों हैं	
६.	ब्रह्मजिज्ञासा में कारण	
७.	गीतार्थ-सङ्ग्रह	
८.	त्रिदेवसाम्य-निराकरण	
९.	हनुमान ने प्रथम साक्षात्कार किया श्रीराम का	
१०.	आचार्य उपदेश	
११.	स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे	
१२.	रक्षा-बन्धन	
१३.	विद्वान् वहीं है जिसे परतत्त्व का ज्ञान हो	
१४.	रामचरितमानस में दार्शनिक-तत्त्व	
१५.	विविधमुहूर्त्ता:	

●

नियमावली

१. यह पत्रिका त्रैमासिक प्रकाशित होगी।

२. इस पत्रिका का वार्षिक चन्दा (अनुदान) ३५ रुपये तथा आजीवन सदस्यता ५०१ रुपये मात्र हैं।

३. इस पत्रिका में भगवत् प्रेम सम्बन्धी, ज्ञान-भक्ति और प्रपत्ति के भावपूर्ण लेख या कवितायें प्रकाशित हो सकेगी।

४. किसी प्रकार का पत्र व्यवहार निम्नलिखित पते पर किया जा सकता है।

५. लेख आदि किसी भी प्रकार के संशोधन आदि का पूर्ण अधिकार सम्पादक के पास सुरक्षित होगा।

—सम्पादक

।। श्रीमते रामानुजाय नमः ।।

वैदिक-वाणी

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

मानवों के प्रति वेद भगवान का आदेश है कि अखिल विश्व में जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् देखने या सुनने में आ रहा है, वे सभी जगदाधार जगन्नियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, कल्याणस्वरूप परमेश्वर से व्याप्त है। सदा सर्वत्र उन्हीं से परिपूर्ण है। कोई भी देश, काल एवं वस्तु उनसे रहित नहीं है। अतः वे त्रिविध-परिच्छेद रहित हैं। वे परमेश्वर सदा सर्वदा मेरे साथ रहते हैं, ऐसा समझकर उनका स्मरण करते हुए मनुष्य को इस जगत् में ममता एवं आसक्ति विहीन होकर विषयों का उपभोग केवल कर्तव्य पालन के रूप में करना चाहिए।

शास्त्रानुकूल उचित कर्त्तव्य-कर्मों का पालन भी भगवान् की पूजा ही है। ममता और आसक्ति ही संसार में विशेष कष्ट देने वाली है। संसार के पदार्थ किसी के भी साथ नहीं जाते हैं। अतः इन्हें आवश्यकता भर प्रभु का प्रसाद समझकर ग्रहण करें, ऐसा समझकर उपभोग करने से प्रभु को प्रसन्नता होती है और उनसे मानव का कल्याण हो जाता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

शास्त्रसम्मत ईश्वर की पूजारूप स्वकर्त्तव्य कर्मों का पालन करते हुए सौ वर्षों तक जीने का मनोरथ करे। इसके बिना जीवन व्यर्थ है। अतः जो लोग शास्त्रानुकूल स्वकर्म कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते तथा जगदाधार श्रीमन्नारायण की पूजा से वंचित रहते हैं, वे पृथ्वी के भार हैं। उनका जीवन पृथ्वी पर मात्र गन्दगी पैदा करने के लिए हुआ है। आसक्ति एवं ममता से रहित कर्म बन्धन कारक नहीं होते। प्रत्येक मानव अपने जीवन में सैकड़ों बार अनुभव किया होगा कि जिस पुत्रादि परिवारों के लिए आसक्ति पूर्वक कर्म किया और उनसे उनके अनुकूल वाञ्छित द्रव्यादि की उपलब्धि नहीं हुई तो उससे उन्हें कष्ट के अतिरिक्त कुछ नहीं मिला होगा। वही आसक्ति उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक हृदय में वेदना उत्पन्न करती रहती है और अधोमार्ग की ओर ले जाने में कारण बन जाती है।

अतः मानव के लिए वेदानुसार ममता एवं आसक्ति विहीन होकर प्रभु प्रसादस्वरूप समझ कर वेद-वर्णित उचित कर्म का पालन करना ही एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है।

●

000

ooo

●

सन्त आलवार

दक्षिण भारत में कुछ प्रसिद्ध वैष्णव सन्त हुए हैं, जिन्हें आलवार कहा जाता है। आलवार का अर्थ है जिसने अध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाया हो। आलवारों को प्रेम और आनन्द की वह दिव्य सरिता कह सकते हैं, जो सच्चिदानन्द रूपी अगाध समुद्र में मिलकर ही शान्ति को प्राप्त होती है। आलवार लोग गीता के सजीव मूर्ति थे, उपनिषदों के उपदेश के जीते-जागते नमूने थे। भगवान के चलते-फिरते मन्दिर थे और भगवत्प्रेम की कलकलनादिनी सरिताएँ थे। आलवारों की संख्या बारह मानी जाती है। उन्होंने भगवान नारायण, राम, कृष्ण आदि के गुणों का वर्णन करने वाले हजारों पद रचे, जिनको सुनकर हृदय एक बार फड़क उठता है।

आलवार सन्त इतने सीधे-सादे, इतने विनयी, भगवत्प्रेम में इतने भींगे हुए और संसार से इतने ऊपर उठे हुए थे कि उन्होंने इस बात की बिल्कुल परवाह ही नहीं की कि उनके सुन्दर पदों को लोग जानें। उन्होंने आजकल के प्रचारकों की भाँति अपने उपदेशों का प्रचार नहीं किया। उनका जीवन भगवान की ओर बड़े वेग से बहने वाला एक सतत प्रवाह था। उन्होंने भगवान के चरणों का सर्वतोभावेन आश्रय ले लिया था। उनका चित्त सदा नारायण के चिन्तन में लीन रहता था। उनका हृदय भगवान का मन्दिर बन गया था। उनकी वाणी केवल भगवान के ही गुणों का गान करती थी। उनके चरण भगवान के ही मन्दिर के प्रदक्षिणा करते थे। उनके हृदय से केवल भगवत्प्रेम के उद्गार ही निकलते थे। उनके नेत्र सर्वत्र सबमें और सभी घटनाओं और परिस्थितियों में एकमात्र नारायण का ही दर्शन करते थे। उनके हाथ भगवान नारायण को ही पुष्पाञ्जलि चढ़ाते थे। उनकी आत्मा का नारायण के साथ परिणय हो गया था। उनका जीवन भगवान नारायण उच्वास बन गया था। वे स्वामी, पिता, सुहृद, प्रियतम तथा पुत्र के रूप में नारायण को ही भजते थे और नारायण से ही प्रेम करते थे, 'सोऽहम्' के 'सः' और अहम् दोनों उस एक के अन्दर दूध और चीनी की भाँति घुल मिलकर एक हो गये थे। मेरा हृदय स्वप्न में भी उनका साथ नहीं छोड़ता। जब तक मैं अपने स्वरूप से अनभिज्ञ था तब तक 'मैं' और 'मेरे' के भाव को ही पुष्ट करता रहता था, परन्तु अब मैं देखता हूँ कि मैं तुम्हारा सर्वथा दास हूँ। मेरा सब कुछ तुम्हारा है, अतः हे प्रभो! मेरे चित्त को डुलाओं नहीं, उसे सदा अपने पाद-पद्मों से दृढ़तापूर्वक चिपटाये रखो। भाइयो! भगवान का ही स्मरण करो। श्रीकृष्ण का ही गुणगान करो। धनियों की स्तुति करके अपनी वाणी का दुरूपयोग न करो। भगवान नारायण का प्रेमरूपी दिव्य सुमन से नित्य अर्चन करो। जगत् का रचयिता वही है, यही नहीं, स्वयं जगत् भी वही हैं। वही जगदीश्वर हैं। उनके सहस्त्रनामों का उच्चारण करो। तुम्हारे अमङ्गल नष्ट हो जाएँगे। उसका दर्शन देवताओं को भी दुर्लभ है, किन्तु भक्तों के लिए अत्यन्त सुलभ हैं। हे जगत् के जीवो! यदि तम मुक्ति का आनन्द लूटना चाहते हो तो उसी से प्रेम करो। आलवारों का जीवन तथा उनकी वाणी इसी ढंग की थी। भारत के १०८ मुख्य वैष्णव मन्दिरों में राम, कृष्ण, नारायण, नृसिंह आदि जिन-जिन विग्रहों की पूजा होती है उन्होंने उन सबका गुणगान किया है।

आलवारों का जीवन-काल ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी पर्यन्त माना जाता है। इनके पदों का संग्रह तथा प्रचार श्रीनाथमुनि द्वारा हुआ जो स्वयं बड़े भक्त और विद्वान थे और

इनके द्वारा निरूपित प्रपत्तिमार्ग को एक निश्चित रूप देकर उसका जगत् में प्रचार श्रीरामानुजाचार्य जी ने किया, जिन्हें भगवान ने इसी कार्य के लिए भेजा था। वैष्णव शास्त्रों में यह बात कही गयी है कि भगवान महाविष्णु ने इन आलवारों के रूप में अपने ही श्रीवत्स, कौस्तुभ, वैजयन्ती, वनमाला, श्री-भू-नीला देवियों, अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, सुदर्शन-चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी, गदा, नन्दक खड्ग और शार्ङ्ग धनुष आदि को संसार में भक्ति मार्ग का प्रचार करने के लिए भेजा था। ये आलवार सन्त भिन्न-भिन्न जातियों में उत्पन्न हुए थे, परन्तु सन्त होने के नाते उन सबका समान रूप से आदर है, क्योंकि इन्हीं के कथनानुसार संतों का एक अपना ही कुटुम्ब होता है जो सदा भगवान में स्थिर रहकर उन्हीं के नामों का कीर्तन करता रहता है। वास्तव में नीच वही है जो भगवान नारायण की पूजा प्रेमसहित नहीं करता। इन सन्त कवियों के चार पद्य 'दिव्य प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ में संगृहीत है जो ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्द से ओत-प्रोत अध्यात्मज्ञान का एक अमूल्य खजाना है। वे वेदमन्त्रों के समान पवित्र और मुक्तिरूपी गंगा को बहाने वाले हैं। जहाँ कहीं आज भी वे भक्तों द्वारा गाये जाते हैं वहाँ भगवत्सामीप्य के आनन्द का अनुभव होता है, सब प्रकार के उत्सवों, धार्मिक कृत्यों तथा पूजाओं में एक स्वर से सभी लोग 'तिरूपाँचमोड़ी' नामक दिव्यप्रबन्ध को गाते हैं, जिसका अर्थ तमिल भाषा में सन्तों के पवित्र मुख से निकली हुई दिव्य वाणी है।

●

भगवत्शरणागति से ही होती है मुक्ति

प्रत्येक मानव को अपने मृत्यु की प्रक्रिया पर ध्यान देना है। मरना सुनिश्चित है, कैसे मरने से जीवन सफल होता है तथा भगवत्प्राप्ति होती है। इसका रहस्य भगवान ने स्वयं बताया है। उन्होंने कहा है कि जो मानव मरते समय 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ तथा मेरा स्वरूप का स्मरण करता हुआ, शरीर का त्याग करता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त कर लेता है। जड़ भरत ने मरते समय भगवान को भूलकर मृग का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग किया था। उसका परिणाम हुआ कि उन्हें मृग योनि में जन्म लेना पड़ा था। अत: मरन काल में भगवान को छोड़कर दूसरे का स्मरण न करे। उस समय पारिवारिक चिन्तन भी छोड़ दे। जो वैष्णव भगवान की चरण कमल में पूर्ण निष्ठा करता है, वह शरीर त्याग के अनन्तर अवश्य ही प्रभु का सान्निध्य प्राप्त करता है, वैष्णव भगवान से प्रार्थना करते हैं—***'धनं मदीयं तव पाद पङ्कजं कदानुसाक्षात्करवानि चक्षुसा'*** अर्थात् मेरा धन आपका चरण कमल है, उसे अपने नेत्रों से कब साक्षात्कार करूँगा। भगवद्भक्त वैष्णवों को मरते समय मुक्ति के लिये कोई देश विशेष की आवश्यकता नहीं रहती है। उपनिषद् का वचन है—***'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्य अथ सम्पत्स्ये'*** (छा०उ० ६.४.२), अर्थात् भगवद्भक्त की मुक्ति में तब तक बिलम्ब है, जब तक प्राकृत शरीर न छूट जाता है। अत: वैष्णव को मरते समय अयोध्या, वृन्दावन या वाराणसी आदि स्थानों में नहीं ले जाना चाहिए। भगवान की शरणागति ही सब देश और सब काल में कल्याण करती है। भगवान श्रीराम ने विभिषण शरणागति प्रसंग में कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।

(वा० रामायण)

भगवान श्रीकृष्ण ने यही उपदेश किया है कि—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

(गीता–८.१३)

अर्थात् मरते समय जो मानव 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ और मेरा स्वरूप का स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह मुझे अवश्य प्राप्त कर लेता है, उससे भी सुलभ मार्ग भगवान ने उपदेश किया है—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता–१८.६६)

अर्थात् जो सर्व धर्म, कर्म, ज्ञान और भक्ति को भौतिक जल छोड़कर एक मेरे चरण कमल का उपाय मान लेता है, उसे मैं सभी पापों से मुक्त कर अपना बना लेता हूँ। इस प्रकार भगवान श्रीराम और भगवान श्रीकृष्ण की शरणागति बचन पर ध्यान न रखने के कारण ही मनुष्य इधर-उधर भटकता है। शरणागति में ही गुण है कि चाण्डाल के घर, श्मशान में या कहीं भी शरीर छूट जाय, उसे मुक्ति अवश्य होती है।

इस रहस्य को वार्तामाला के ९५वें वार्ता से समझें। वहाँ ऐसा आया है कि महापूर्ण स्वामी के कष्ट को देखकर श्री अतुलाय देवी ने कहा कि क्या श्रीरंगम् जी जाना आपका ठीक होगा? श्रीमहापूर्ण स्वामी जी ने उत्तर दिया कि यदि हम श्रीरंगम् जाकर शरीर त्याग करेंगे तब सभी श्रीवैष्णव यह समझेंगे कि महापूर्ण जैसे महात्मा को परमपद जाते समय श्रीरंग क्षेत्र जाने की आवश्यकता हुई, तो हमको भी ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार सभी श्रीवैष्णवों के मन में ये भाव उत्पन्न हो जायेगा कि मरते समय श्रीरंगम् गये बिना मुक्ति नहीं होगी। यह महान् दोष का कारण बन जायेगा।

प्रपत्ति सब देश और सब काल में रक्षक है, वैष्णवों की उसी से मुक्ति होती है। इसलिये मैं श्रीरंगम् नहीं जाऊँगा। मुझे भगवान की शरणागति पर पूर्ण विश्वास है और सभी वैष्णवों को पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। किसी भी दिव्य-देश में जाकर शरीर त्याग करने की आवश्यकता नहीं है।

●

ध्यान दें जप-विधि पर

तत्त्व-द्रष्टा त्रिकालदर्शी ऋषियों ने मानवों के अनादि काल से सञ्चित अन्तःकरण के मलों को साफ करने के लिए मन्त्र जप का विधान किया है। हम मानव जगत् के अन्दर अपने वस्त्रों तथा शरीरों को साफ करने के लिए सोडा, साबुन आदि का प्रयोग करते हैं; परन्तु आत्मगत मलों को साफ करने के लिए मात्र शास्त्रों का बताया हुआ उपाय (साधन) ही काम कर सकता है। उपायों में मन्त्र जप सर्वोत्तम माना गया है। अत एव भगवान् कृष्ण ने ***'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'*** कहकर अपने को जप यज्ञ स्वरूप बतलाया है। मनु ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि मन्त्र जप से लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धि मिलती है।

'जपेनैव तु संसिद्धेद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः'।

अध्यात्म रामायण में—

'मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते'।

अर्थात् भगवान् श्रीराम कहते हैं कि सांगोपांग मंत्र का जप सप्तम भक्ति है। पद्मपुराण में भवबन्धन

से मुक्ति के लिए सोलह प्रकार की भक्तियाँ बतलायी गई हैं। ***'अर्चनं च जपोध्यानं'*** कहकर जप को प्रधान स्थान दिया है। रामचरित मानस में शबरी के प्रति नवधा भक्ति का उपदेश करते हुए श्रीराम ने कहा कि ''मन्त्र जप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा''॥ इस तरह सर्वत्र शास्त्रों के अवलोकन से इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि अनादि काल से मोहवश किये गये दुष्कर्मों के द्वारा सञ्चित आत्मगत मलों के निवारण से श्रीवैष्णवों को तुलसी या कमलाक्ष की माला पर मूल मन्त्रादि का जप करना चाहिए। भगवद् मन्त्रों का जप रुद्राक्ष की माला पर निषिद्ध है। अत: न उसे धारण करें और न उस पर जप ही करे। शास्त्रों में जप तीन प्रकार के बतलाये गये हैं—

वाचिक, उपांशु और मानस। तीनों प्रकार के जपों का विधान अलग-अलग है। वाणी से जप करने में दस गुणा फल, उपांशु (ओठ हिले परन्तु दूसरे मनुष्य शब्द न सुन सके वह) जप करने में सौ गुणा फल तथा एकाग्रता पूर्वक मन में जप करने में जिसमें जिह्वा भी न हिले, हजार गुणा फल होता है। प्रथम वाचिक जप, द्वितीय उपांशु और तृतीय मानस जप है। इन तीनों में मानस जप सर्वोत्तम है। जप करते समय वस्त्र से छिपाकर जप करना चाहिए। मन्त्र जप के समय माला को तर्जनी तथा कनिष्ठा से स्पर्श न करे, न माला को अधिक डुलावें।

जपते समय यदि भूल या असावधानी से माला नीचे गिर पड़े तो १०८ बार अधिक जप करें। जप के समय मौन रहना चाहिए। मन्त्रप्रतिपाद्य देव और मन्त्राधिष्ठातृदेव के स्वरूप का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए।

माला के अभाव में कभी-कभी अँगुलियों पर भी जप किया जा सकता है, जिसे कर माला कहते हैं। अनामिका के मध्य पर्व से आरम्भ करके नीचे के पर्व से होते हुए कनिष्ठा अङ्गुली के निम्न पर्व से जपते हुए उपर की ओर अर्थात् मध्यमा अङ्गुली के मात्र ऊपर के पर्व होते हुए तर्जनी के ऊपर पर्व तक जाय और पुन: ऊपर की ओर होते हुए अनामिका के मध्य पर्व तक पहुँच जाय। मध्यमा अङ्गुली के नीचे दो के पर्व पर अङ्गुली नहीं जानी चाहिए, न उसका उल्लङ्घन ही करे।

आरभ्यानामिका मध्य पर्वाण्युक्तान्यनुक्रमात्।
तर्जनीमूलपर्यन्तं जपेद्दशसु पर्वसु।।
मध्यमाङ्गुलिमूले तु यत्पर्वद्वितीयं भवेत्।
तं वै मेरुं विजानीयाज्जपे ते नातिलङ्घ्यते।।

अल्प समय होने पर भी १०८, २८ अथवा १० बार जप अवश्य कर लें। प्रात: काल मूल मंत्र तथा गायत्री मन्त्र का जप करने से रात्रि में मन, कर्म, वचन से अज्ञात रूप में हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। मध्याह्न में जप करने से पंच महापातक तथा उपपातक नष्ट हो जाते हैं। अत एव महानारायण उपनिषद् का वचन है कि—

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति।
सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति।
तत्सामं प्रातरधीयानोऽपापो भवति।।
मध्यं दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः।
पञ्चमहापाताकोपपातकात्प्रमुच्यते।।
सर्ववेदपारायणजपुण्यं लभते।
नारायणसायुज्यमवाप्नोति।।

श्रीमन्नारायण सायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद, मूल मन्त्र जप करने से लौकिक विशेष फलों का भी निर्देश उपनिषद् में किया गया है। यथा—

'सर्वमायुरेति विन्दते प्राजापत्यं रायष्योषं गोपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते'।

भाव यह है कि मूल मन्त्र का जप करने से

आयु वंश तथा धन की वृद्धि होती है और शरीरावसान के बाद श्रीभगवान् की सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है—

किं तत्र बहुभिर्मन्त्रैः किं तत्र बहुभिर्व्रतैः ।
नमो नारायणायेति मंत्रः सर्वार्थसाधकः।।

अर्थ यह है कि जब ***'ॐ नमो नारायणाय'*** यह वैदिक मन्त्र लौकिक तथा पारलौकिक फलों को देने में पूर्ण समर्थ है तो अनेक मन्त्रों और व्रतों से क्या लाभ? अर्थात् अन्य मन्त्रों तथा व्रतों का पालन करने की आवश्यकता नहीं है।

नारायणेति शब्दोऽस्ति वागस्तिवशवर्तिनी ।
तथाऽपि नरके घोरे पतन्येतद्दभुतम् ।।

नारायण यह शब्द है, जिह्वा अपने वश में है। फिर भी मनुष्य अपनी जिह्वा से नाम नहीं लेने के कारण नरक में जाता है। यह बड़ा आश्चर्य है; क्योंकि मनुष्य इतना सुलभ उपाय को भी नहीं कर पाता है। सम्प्रदायानुसार गुरु परम्परा से अष्टाक्षर, षडक्षर, द्वादशाक्षर आदि मंत्रों में से जो प्राप्त हो उसी का जप करे; परन्तु भगवद् मन्त्र होना चाहिए। चूँकि अन्य देवों के मन्त्र जप से लौकिक कुछ फल भले मिल जाय परन्तु मोक्ष नहीं मिल सकता है। मोक्ष देने में समर्थ एक मात्र पूर्वोक्त भगवद् मन्त्र ही है।

●

एक ही ब्रह्म कार्य और कारण दोनों है

छान्दोग्योपनिषद् के छठा अध्याय प्रथम खण्ड में यह प्रसङ्ग है कि उद्यालक का पुत्र श्वेतकेतु था। वह बारह वर्ष की अवस्था में उपनीत होकर गुरु के पास अध्ययन के लिए गया, उसने चौबीस वर्ष तक सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन लिया। श्वेतकेतु अपने को बड़ा बुद्धिमान और व्याख्याता मानते हुए उदण्ड भाव से घर लौटा। उद्यालक ने पण्डितमानी और अविनीत अपने पुत्र को देखकर श्वेतकेतु से पूछा कि ''स्तब्धोऽस्युत तमादेशम प्राक्ष्यः'' अर्थात् हे श्वेतकेतु तुम स्तब्ध अर्थात् परिपूर्ण के समान दिखाई देते हो। क्या तुमने उन आचार्यों से आदेश (परमात्मा) के विषय में सब कुछ पूछकर जान लिया है। परमात्मा को जान लेने पर ही पूर्ण बन सकते हो। परमात्मा के ज्ञान बिना कोई पूर्ण नहीं हो सकता। उपर्युक्त वाक्य में आदेश शब्द परमात्मा का वाचक है। श्रीभगवान सबको आदेश देने वाले हैं, तथा सब पर शासन करने वाले हैं। इसलिए आदेश कहलाते हैं। श्रीभगवान प्रशासन करते हैं। यह अर्थ श्रुति और स्मृति से प्रमाणित है। उपनिषद में कहा गया है कि ***'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौविधृतौ तिष्ठतः'*** अर्थात् हे गार्गि! इस प्रकार ब्रह्म के प्रशासन ही सूर्य और चन्द्रमा को धारण किए हुए है। मनुस्मृति में भी ***'प्रशासितार सर्वेषाम्'*** कहकर मनु ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर सब पर शासन करने वाले हैं। परब्रह्म, परमात्मा ईश्वर और भगवान इन शब्दों से एक ही अर्थ का बोध होता है।

ईश्वर संकल्प के द्वारा सब पर शासन करते हैं, तथा संकल्प के द्वारा सबकी सृष्टि करते हैं। संकल्प के द्वारा सृष्टि करने के कारण ही ईश्वर जगत् के निमित्त कारण होते हैं। कारण दो प्रकार के होते हैं उपादान और निमित्त। जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करता है, यहाँ घट का उपादान कारण मिट्टी है; क्योंकि मिट्टी ही घट के रूप में परिणत हो जाती है। मिट्टी को घट रूप में परिणत करने वाला कुम्भकार होता है। इसलिए कुम्भकार घट कार्य में

निमित्त कारण माना गया है। उसी प्रकार सूक्ष्म जड़-चेतनों से विशिष्ट ईश्वर जगत् रूप में परिणत होते हैं। इसलिए वे जगत् के उपादान कारण बनते हैं— ***'सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्'*** इस उपनिषद वाक्य से ईश्वर का उपादान और निमित्त कारणत्व सिद्ध होता है। इस वचन का यह अर्थ है कि प्रलयकाल में यह जगत् सत् ब्रह्म के रूप में था। सूक्ष्म जड़-चेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही सत् ब्रह्म है। स्थूल जड़-चेतनों से विशिष्ट ब्रह्म ही यह जगत् है। प्रलयकाल में सूक्ष्म जड़-चेतनों से युक्त रहने वाला ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूल जड़-चेतनों से विशिष्ट ब्रह्म के रूप में परिणत होता है।

तत्त्व तीन है—जड़,चेतन और ईश्वर। इनमें जड़ चेतन की दो अवस्थाएँ होती हैं सूक्ष्म और स्थूल। प्रलयकाल में जड़-चेतन सूक्ष्मावस्था में रहते हैं और सृष्टिकाल में स्थूलावस्था में। सूक्ष्म का अर्थ है नाम रूप के अयोग्य। स्थूल का अर्थ है नाम रूप से योग्य। प्रलयकाल में जड़-चेतन नाम-रूप के अयोग्य होने से सूक्ष्म कहलाते हैं और सृष्टिकाल में जड़-चेतन नाम रूप से युक्त होने के कारण स्थूल कहलाते हैं। प्रलयकाल में जीवात्माओं के स्थूलदेव, मनुष्यादि शरीरों से रहित होने के कारण उनमें नाम रूप का व्यवहार नहीं होता है। सृष्टिकाल में शरीर के माध्यम से देव, मनुष्यादि नाम तथा उनके अनुसार रूप का व्यवहार जीवात्माओं में होता है, इसी तरह सृष्टि अवस्था में, जड़ पदार्थों में भी पृथ्वी, जल, तेज आदि नामों एवं उनके रूपों से व्यवहार होता है। प्रलयकाल में वैसा व्यवहार नहीं होता है। सूक्ष्म जड़-चेतन से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और स्थूल जड़-चेतन से विशिष्ट ब्रह्म ही जगत् रूप कार्य है।

पुन: उद्यालक ने श्वेतकेतु से कहा कि तुमने आचार्य से यह विषय जान लिया— ***'येनाश्रुत श्रुत भवत्यमत मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'*** जिस एक वस्तु का श्रवण करने पर उन सभी वस्तुओं का श्रवण सम्पन्न हो जाता है, जिस एक वस्तु का मनन करने पर उन सभी वस्तुओं का मनन सम्पन्न हो जाता है जिस एक वस्तु का ध्यान करने पर उन सभी वस्तुओं का ध्यान सम्पन्न हो जाता है उस वस्तु को तुमने आचार्यों से पूछकर जाना या नहीं। उद्यालक के प्रश्न का भाव है कि इस जगत् का उपादान एवं निमित्त जो ब्रह्म है वह सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय में कारण है। वह अवाप्तसमस्त काम है। सदा परिपूर्ण रहता हुआ लीला के रूप में सृष्टि स्थिति और प्रलय को करता रहता है। उस ब्रह्म का ज्ञान अनिवार्य है।

उद्यालक के वचन सुनकर श्वेतकेतु ने कहा कि ब्रह्म, जड़ और चेतन ये सभी पदार्थ परस्पर में विलक्षण हैं अत: उनमें एक को जानने से दूसरे का ज्ञान कैसे हो सकता है यह सर्वथा असम्भव है। ***'कथं नु भगवः स आदेशः'*** अर्थात् शासक (ब्रह्म) एक वस्तु को जानने पर सब पदार्थ जाने जाते हैं इस बात को मैं कैसे समझूँ।

उद्यालक ने विचार किया कि अब हमे सब मर्म को खोलकर श्वेतकेतु को बताना चाहिए, अत: उसने कहा कि परब्रह्म ज्ञानानन्द स्वरूप है। वह असंख्य कल्याण गुणों से युक्त है। जड़-चेतन से युक्त होने के कारण परब्रह्म विशेष्य स्वरूप है, वह सब प्रकार के विकार से रहित है। उनके विशेषण जड़-चेतन में विकार हुआ करता है।

महाप्रलय काल में जड़-चेतनों में नाम रूप विभाग को प्राप्त करने की योग्यता नहीं रहती है, उस समय वे नामरूपविभाग से हीन बनकर रहते हैं। यही उनकी सूक्ष्मता है। वह परब्रह्म लीला करने के लिए संकल्पमात्र से जड़-चेतनों को सृष्टिकाल में अनन्त विचित्र स्थावर जंगममय जगत् के रूप में परिणत कराकर उनका अन्तर्यामी बनकर जगत् रूप को धारण कर लेता है यही सृष्टि प्रक्रिया है। इस प्रकार सृष्टि करने का प्रयोजन केवल लीला ही

है। इसमें परब्रह्म को आयास नहीं होता है; क्योंकि वह बिना किसी परिश्रम के संकल्पमात्र से इसे सम्पन्न कर देता है। परब्रह्म सृष्टिकाल में जड़-चेतनों को विविध नामरूपों में परिणत कर देता है। यही इनकी स्थूलता है। इस प्रकार प्रलयकाल में सूक्ष्म जड़-चेतनों से विशिष्ट बनकर रहने वाला परब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूल जड़-चेतनों से विशिष्ट बनकर जगत् रूप से अवस्थित है। एक ही वस्तु पूर्वावस्था में कारण एवं उत्तरावस्था में कार्य होते हैं। इसलिए कारणवस्तु को जानने पर उससे बनने वाले सभी कार्यपदार्थ अनायास जाने जा सकते हैं। उपादान कारण बनने वाला पदार्थ ही कार्य बनकर रहता है। कारण और कार्य में अभेद है।

एक मृतिका पिण्ड ही घट, दीप, ढकनी आदि के रूप में परिणत होकर वाणी द्वारा उन नामों से व्यवहार किया जाता है तथा उन पात्रों को जलाहरण आदि काम में लाया जाता है। घट आदि पदार्थ मृतिका से भिन्न द्रव्य नहीं है। मृत्तिका द्रव्य ही घट हाँडी दीपक आदि बन जाता है, इसलिए एक ही मृतिका पिण्ड को जानने से उससे निर्मित जितने पात्र हैं घट आदि सारे पात्र जान लिए जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है उसे जान लेने पर ब्रह्म ही जगत् रूप कार्य होने के कारण जगत् के सारे जड़-चेतन रूप पदार्थ जानलिए जाते हैं।

उद्यालक ने श्वेतकेतु से कहा कि घट निर्माण करने वाला कुम्भकार घट में परिणत नहीं हो सकता है और घटरूप में जो परिणत होने वाली मिट्टी है, वह भी जड़ होने से स्वयं घट रूप में परिणत नहीं हो सकती है। इसलिए मिट्टी जो उपादान कारण है उसे घट रूप में परिणत करने वाला कुम्भकार निमित कारण बनता है।

परन्तु सूक्ष्म जड़ चेतन युक्त ब्रह्म चेतन हैं इसलिए वह उपादान कारण होता हुआ स्वयं ''तदैक्षत बहुस्यां प्रजाय'' ऐसा संकल्प करके स्थूल जड़ चेतन युक्त ब्रह्म कार्य रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए सूक्ष्म जड़ चेतन युक्त ब्रह्म उपादान कारण और स्थूल जड़ चेतन युक्त ब्रह्म जगत् रूप कार्य बनता है। यहाँ उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों एक ही हैं। ***(क्रमशः अगले अङ्क में)***।

●

ब्रह्मजिज्ञासा में कारण

वेद अपौरुषेय है, पुरुष के द्वारा वेद का निर्माण नहीं हुआ है। वेद के द्वारा ही वैकुण्ठ, स्वर्ग, नरक, ब्रह्म तथा जीवात्मा का ज्ञान होता है। पितरों देवताओं एवं मनुष्यों के लिए दिव्य चक्षु वेद ही है—

पितृदेव मनुष्याणां वेदः चक्षुः सनातनम्।

सृष्टि के आरम्भ में भगवान् नारायण के नाभी से एक कमल उत्पन्न हुआ, उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुये। भगवान् नारायण ने ब्रह्मा को चारों वेद का उपदेश किया। ब्रह्मा से ऋषियों को वैदिक ज्ञान प्राप्त हुये। उसी परम्परा से आज तक वैदिक ज्ञान प्राप्त होते आ रहें है। प्रारम्भ में वेद मंत्रों को सुनकर याद कर लेते थे। इसलिए वेद का नाम श्रुति भी है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तम्हं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।

(श्वेताश्वेतरोपनिषद्)

वेद का दो भाग है, कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्ड को ही उपनिषद् कहते हैं। कर्मकाण्ड का फल इस लोक से स्वर्ग तक है। इस लोक और स्वर्ग का फल अल्प और नश्वर होता है। इसके

लिए निम्नलिखित उपनिषद् मन्त्रों पर ध्यान दें—

१. ***'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते'*** (छान्दोग्योपनिषद्)।

अर्थ—इस लोक की वस्तुएँ जैसे नश्वर हैं, वैसे ही स्वर्ग की वस्तुएँ भी नश्वर हैं।

२. ***'अन्तवदेवास्य तद्भवति'*** (वृहदारण्यक)।

अर्थ—सकाम कर्मों का फल नाशवान् ही होता है।

३. ***'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते'*** (कठोपनिषद्)।

अर्थ—क्षणभंगुर कर्मों से नित्य फल कभी नहीं मिलता।

४. ***'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपाः'*** (मुण्डकोपनिषद)।

अर्थ—यज्ञादि सकाम कर्म संसार से पार करने वाली दृढ़ नौकाएँ नहीं हैं।

५. ***'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन'*** (मुण्डकोपनिषद्)।

अर्थ—लौकिक कर्मों का भली भाँति पर्यवेक्षण करके उनके फलों की नश्वरता समझकर मुमुक्षु को सांसारिक कर्मों की ओर से वैराग्य हो जाता है।

ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त और अक्षय होता है। इसके लिए निम्नलिखित उपनिषद मन्त्र प्रमाण है।

६. ***'ब्रह्मविदाप्नोति परम'*** (तैतीरीयोपनिषद्)।

अर्थ—ब्रह्म को जाननेवाला परमपुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है।

७. ***'तमेवं विद्वानमृत इह भवति'*** (पुरुषसूक्त)।

अर्थ—परमात्मा को जानने वाला आवागमन से मुक्त हो जाता है।

इसलिए अङ्ग सहित समस्त वेदों के ज्ञान से यह निश्चय हो जाता है कि कर्म से प्राप्त होने वाला फल अल्प और नश्वर है और ब्रह्मज्ञान से अपरिमित और अक्षय सुख प्राप्त होता है। अत एव कर्मज्ञान के बाद ब्रह्म की जिज्ञासा होती है। इसलिए श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य जिज्ञासाधिकरण में लिखते हैं—

'अधीतसाङ्गःसशिरस्कवेदस्याधिगताल्पास्थिरफल-केवलकर्मज्ञानतयासंजातमोक्षाभिलाषस्यानन्तस्थिर-फलब्रह्मजिज्ञासा ह्यनन्तरभाविनी'।

वृत्तिकार ने भी ऐसा लिखा है— ***'वृत्तात्कर्माधि-गमादनन्तरं ब्रह्मविविदिषा'*** अर्थात् कर्मतत्व को भली भाँति जानने के बाद ब्रह्मज्ञान की इच्छा होती है। ब्रह्मसूत्र पर वृत्ति (अर्थ) लिखने वाले महर्षि बोधायन थे। जिसे प्राप्त करने के लिए स्वामी रामानुजाचार्य काश्मीर गये थे, वहीं उन्हें वोधायनवृत्ति प्राप्त हुई थी। उसी वोधायन वृत्ति के आधार पर स्वामी रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जो श्रीभाष्य नाम से प्रसिद्ध है। महर्षि बोधायन वृत्ति के आधार पर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने के कारण इनका भाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा ये दो हैं, कर्मकाण्ड के मन्त्रों में जहाँ संशय उत्पन्न होता है, उसको दूर करने के लिए महर्षि जैमिनी ने पूर्व मीमांसा का बारह अध्याय निर्माण किया है। ***'अथातो धर्मजिज्ञासा'*** यहाँ से कर्ममीमांसा प्रारम्भ है। उपनिषद् के निःसंदिग्ध अर्थ बतलाने के लिए श्रीवेदव्यास जी ने ब्रह्ममीमांसा शास्त्र का निर्माण किया है जो चार अध्याय में है, उसी को शारीरिकमीमांसा भी कहते हैं। जिसका आरम्भ ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'' यहाँ से होता है।

कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा ये दोनों एक शास्त्र है, इसलिए ब्रह्मसूत्र के वृत्तिकार बोधायन ने कहा है— ***'संहितमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडश-लक्षणेनेति शास्त्रैकत्वसिद्धिः'*** ब्रह्ममीमांसा को शारीरिकमीमांसा भी कहते हैं।

यह शारीरक मीमांसा, जैमिनिकृत, धर्ममीमांसा

के सोलह अध्यायों से मिलकर ही संपूर्ण एक शास्त्र के रूप में पूरी होती है। प्रतिपाद्य विषय को जैसे पाद और अध्यायों में बाँटकर अलग-अलग वर्णन किया गया है, वैसे ही मीमांसा के पूर्व और उत्तर दो भेद है। मीमांसा शास्त्र पूर्वमीमांसा के आदि सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' से लेकर उत्तरमीमांसा के अंतिम सूत्र 'अनावृत्तिश्शब्दात्' में जाकर संगति विशेष के विशिष्ट क्रम से पूरा हुआ है।

यद्यपि उपनिषद् मन्त्रों से ही कर्मफल की नश्वरता और ब्रह्मज्ञान का फल अनन्त एवं अक्षय होता है ऐसा निश्चय हो जाता है, तथापि उनका निश्चयात्मक ज्ञान के लिए कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा का ज्ञान आवश्यक है।

मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्म की जिज्ञासा होने पर श्रीवेदव्यास जी ने ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान कराने के लिए ***'जन्माद्यस्ययतः'*** इस ब्रह्मसूत्र का उल्लेख किया। अर्थात् जिसके सङ्कल्प से जगत् का सृजन पालन एवं संहार होता है उसे ब्रह्म कहते हैं—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति'।

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

श्रीयामुनाचार्य स्वामी ने आलवन्दार स्तोत्र की रचना करते हुए कहा कि ब्रह्म का केवल सृष्टि पालन और संहार करना ही काम नहीं है, बल्कि अपने भक्तों को मोक्ष प्रदान करना यह मुख्य कार्य है—

त्वदाश्रितानां जगदुद्भवस्थिति
प्रणाशसंसारविमोचनादयः ।
भवन्ति लीलाविधयश्च वैदिका-
त्वदीयगम्भीरमनोनुसारिणः ।।

(आलवन्दार)

श्रीभाष्यकार स्वामी ने 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस सूत्र पर विचार करते हुए कहा है—

'ब्रह्मशब्देन य स्वभावतो निरस्तनिखिल-दोषोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणः पुरुषोत्तमोऽभिधीयते। सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः। बृहत्त्वं च स्वरूपेण गुणौ च यत्रानव-धिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः'।

अर्थात् स्वाभाविक समस्त दोषों से रहित और निरवधि-असंख्य कल्याणमयगुणों से युक्त पुरुषोत्तम ही ब्रह्म शब्द वाच्य है। ब्रह्म शब्द सभी जगह बृहत्त्व गुण के कारण ही प्रयुक्त होता है। जो सब से अधिक रूपवान् एवं गुणवान् होता है, उसे ही ब्रह्म कहते हैं।

श्रीराम और श्रीकृष्ण ये दोनों ब्रह्म थे। ब्रह्म के ही ये दोनों अवतार हुए हैं। नारद ने श्रीवाल्मीकि से कहा है कि इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न श्रीराम ***'नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान धृतिमान् वशी'*** –ये भगवान् श्रीराम की स्वाभाविक गुण है।

'बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुर्निबर्हणः' अर्थात् सर्वज्ञ मर्यादावान्, वेद प्रर्वतक, लीला विभूति और त्रिपादविभूति–इन दोनों के जो नायक हो, जिनके पास शत्रुओं के नाश करने की शक्ति हो, सृष्टि उपयोगी ये पाँच गुण भगवान श्रीराम में थे— ***'स च सर्वगुणोपेतः कौसल्या नन्दवर्धनः'*** अर्थात् श्रीराम सम्पूर्ण गुणों से युक्त हैं और अपनी माता कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं।

जब श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ जनकपुर में पहुँचे हैं, महामुनि विश्वामित्र उन्हें लेकर गये थे। उस समय राजा जनक ने विश्वामित्र का सत्कार करके पूछा—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा।
उभय वेशधरि की सोई आवा।।

अर्थात् राम लक्ष्मण को देखकर राजा जनक ने विश्वामित्र मुनि से पूछा कि आपके साथ जो हैं जिस

ब्रह्म को वेद नेति नेति कहकर कहता है, वही ब्रह्म ये दोनों राजकुमार के रूप में नहीं तो आ गये हैं; क्योंकि जिस ब्रह्म का मैं ध्यान करता हूँ। उससे मेरा मन हटकर ये दोनों में लग गया है।

'वरवस मन सुखइ मन त्यागा' भगवान् श्रीराम का आलौकिक सौन्दर्य ब्रह्म चिन्तन में लगा हुआ, राजा जनक के मन को खिंच लिया। भगवान् श्रीराम ने सरभङ्ग, सवरी, जटायु आदि को मोक्ष प्रदान किया। भगवान श्रीकृष्ण में भी आलौकिक सौन्दर्य एवं अपरिमित दिव्य गुण थे।

गीतार्थ संग्रह

किसी भी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय सर्वप्रथम देखा जाता है। गीता किस विषय का वर्णन करती है इसका विचार करना है। प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान होने से ग्रन्थ अध्ययन की ओर लोगों का विशेष झुकाव होता है। अतः गीतार्थ संग्रह ग्रन्थ में भी स्वामी यामुनाचार्य जी महाराज ने प्रथम एक श्लोक से गीता के अट्ठारहवें अध्याय के अन्दर वर्णित विषयों का उल्लेख किया है—

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येक गोचरः ।
नारायणः परब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ।।

अर्थात् स्वधर्म ज्ञान, वैराग्य, भक्ति तथा उससे प्राप्य श्रीमन्नारायण ही परब्रह्म तत्त्व हैं। गीता का प्रथम प्रतिपाद्य विषय स्वधर्म है। चारों वर्णों के धर्म का गीता के अन्दर स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ धर्म और कर्म दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। गीता अध्याय १८ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के लिए स्वाभाविक पृथक्-पृथक् गुणों के अनुसार कर्म कहे गये हैं—

१. शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।
२. शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान और ईश्वर भाव ये क्षत्रियोचित कर्म हैं।
३. अन्नादि उत्पन्न करने के लिए खेती करना, पशुपालन करना धन सञ्चय के लिए क्रय-विक्रयादि रूप व्यापार करना ये तीनों वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं।
४. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का स्वाभाविक धर्म है।

जिस वर्ण के लिए जो स्वाभाविक कर्म कहा गया है, उसका कल्याण अपने कर्म के पालन से होता है। अर्थात् जो व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्म का समुचित रूप से पालन करता है उसे परम पद प्राप्त होता है, क्योंकि शास्त्रानुसार स्वकर्त्तव्य कर्म का पालन भगवान् की उपासना है। जो संसार का सृजन, पालन और संहार करने वाले भगवान हैं, उनकी पूजा के बिना जीव का कल्याण नहीं होता है और भगवान की सबसे बड़ी पूजा है अपने कर्म का पालन करना इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

अगर अपना धर्म गुण रहित भी हो तो उसे ही पालन करना चाहिए। दूसरे का धर्म गुणवान भी हो तो उसे पालन कभी भी नहीं करना चाहिए। गुणरहित अपना धर्म ही कल्याणकारक होता है: दूसरे का धर्म पालन से धोखा होता है उससे कल्याण नहीं होता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।।

गीता अध्याय ३ से भी यही भाव स्पष्ट होता है—

श्रेयान् स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयो परधर्मो भयावहः ।।

यहाँ पर अपने धर्म के पालन में मर जाना अच्छा कहा गया है; परन्तु दूसरे के धर्म का पालन करना कदापि उचित नहीं है। जिसकी इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं जो मन पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है वह व्यक्ति कर्मयोग को छोड़कर अगर ज्ञानयोग का पालन करता है तो उसे धोखा होगा, क्योंकि ज्ञानयोग में इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। बिना इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त किये ही अगर मनुष्य ज्ञानयोग में लगता है तो उससे ज्ञानयोग सिद्ध होता ही नहीं, प्रत्युत वैसे व्यक्ति को दोष का भी भागी बनना पड़ता है। अतः कर्मयोग रूप धर्म के अधिकारी व्यक्ति की ज्ञानयोग रूप धर्म में नहीं लगना चाहिए। कर्मयोगियों को कर्म से ही कल्याण होता है।

ज्ञान—यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ सामान्य ज्ञान नहीं है। भोजन, शयन आदि प्राकृत योग विषयक ज्ञान सभी प्राणियों को ही होते हैं, जिस ज्ञान से मानव यह निश्चय कर ले कि मैं भगवान की वस्तु हूँ और भगवान मेरे हैं वही अर्थ ज्ञान शब्द से लिया गया है जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान।

वैराग्य—परमात्मा में प्रगाढ़ अनुरक्ति और सांसारिक वस्तुओं से विरक्ति ही वैराग्य है।

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।

(नारद परिव्राजकोपनिषद्)

'दृष्टानुश्रविकविषयपितृष्णास्यवशीकार संज्ञावैराग्यम्'। अर्थात् ऐहिक और आमुष्मिक (स्वर्गीय) विषयों से तृष्णा रहित मन का होना ही वैराग्य है।

यहाँ स्वधर्म शब्द से कर्मयोग और ज्ञान शब्द से ज्ञानयोग विवक्षित है। ज्ञानयोग और कर्मयोग के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है। उसका भाव यह है कि निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग के द्वारा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है। वैराग्य कर्मयोग के सिद्धि में सहायक है। जब सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न होता है, तब निष्काम कर्मयोग में मन लगता है। सांसारिक विषयों की चाह रहने पर निष्काम कर्मयोग नहीं बनता है। अतः विषयों से वैराग्य भी कर्मयोग में सहायक है। आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर परमात्मा के प्रति प्रेम होता है, परमात्मा के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं, अत एव वेदान्ताचार्य ने लिखा है—

महनीय विषये प्रीतिर्भक्तिः । प्रीति पूर्वमनु-
ध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते ।

ऐसा लिङ्गपुराण में लिखा है। नारद जी ने अपने भक्तिसूत्र में कहा है कि सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अर्थात् परमेश्वर श्रीमन्नारायण भगवान में परम प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति भगवान को प्राप्त कराने में साधन है। इसका उद्घोष भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के अन्दर अपने मुखारविन्द से किया है—

भक्त्या त्वनन्यथा शक्य, अहमेवं विधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रपेष्टुं च परं तप ।।

(गीता-११-५०)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

गीता के इन वचनों से स्पष्ट है कि भक्ति प्रभु की प्रसन्नता में प्रधान साधन है। भक्ति की महिमा गीता (अध्याय ९-१२) में विशेष रूप से गायी गयी है।

एक नारायण ही ब्रह्म तत्त्व हैं। भगवान श्रीकृष्ण के दो स्वरूप का दर्शन गीता शास्त्र में मिलता है। एक चतुर्भुज स्वरूप और दूसरा विराट् स्वरूप का। गीता का उपदेश है कि भगवान श्रीकृष्ण ही ब्रह्म तत्त्व हैं। वे ही नारायण, विष्णु आदि नामों से विश्व में प्रसिद्ध हैं। सप्तम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि मैं ही सम्पूर्ण विश्व का सृजन, पालन तथा संहार करता हूँ। गीता अध्याय १० में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।

समस्त ऋषि, देवर्षि, असित, देवल, व्यास आदि आपको शाश्वत दिव्यपुरुष, अजन्मा, व्यापक तथा आदि देव नारायण कहते हैं और इसका समर्थन स्वयं आपने भी किया है। अतः गीता का प्रधान प्रतिपादक तत्त्व नारायण ही सिद्ध होते हैं।

●

त्रिदेवसाम्य-निराकरण

शास्त्रों में मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारों का वर्णन देखा जाता है। सर्वत्र श्रीविष्णु ही पूर्वोक्त सभी रूपों में अवतरित होते हैं, ऐसा उल्लेख मिलता है। जब-जब इस धरातल पर अत्याचारी राक्षसों के अत्याचार से जन-जीवन पीड़ित हुआ है, देवता तथा सन्त विशेष सताये जाने लगे हैं, ब्रह्मा, श्रीशंकर, इन्द्र आदि देवों की शक्ति उसके निराकरण में समर्थ नहीं हुई है, तब तब इस पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी, ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि देवगण तथा ऋषि महर्षियों ने अन्यायनिवारण के लिए श्रीभगवान विष्णु से ही प्रार्थना की है। उन विष्णु ने विभिन्न रूपों में आकर इस पृथ्वी का भार हरण किया है। कहीं भी प्रामाणिक ग्रन्थों में ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है कि ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि देवों के साथ श्रीविष्णु ने भी किसी विशेष शक्तिमान् के पास पृथ्वी भार निवारणार्थ प्रार्थना की है।

वाल्मीकि तथा अध्यात्म रामायण में अवतरित होने के लिए देवगण कृत प्रार्थना—

स हि देवैरूवीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः।
एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरूपयातो महाद्युतिः।
शंखचक्रगदापाणिः पीतपासा जगत्पतिः।
तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय सन्नताः।

(बा०रा०)

तस्मात्क्षीर समुद्रतीरमगमद् ब्रह्मान्य दैवैर्वृतो
देव्या चाखिल लोक हृत्स्थमजरं सर्वज्ञमीशं हरिम्।
अस्तौषीच्छ्रुतिसिद्धनिर्मलपदैः स्तोत्रैः पुराणोद्भवैः
भक्त्या गद्गदया गिराति विमलैरानन्द वाष्पैर्वृतः।।

अर्थात् समस्त देवताओं के सहित श्रीब्रह्माजी पृथ्वी को साथ लेकर क्षीर सागर के तट पर गये और वहाँ उन्होंने अत्यन्त निर्मल आनन्दाश्रुओं से परिप्लुत हो अखिल लोकान्तर्यामी, अजर, सर्वज्ञ, भगवान श्रीहरि की अति निर्मल युक्त गद्-गद् वाणी से श्रुतिसिद्ध विमल पदों और पुराणोक्त स्तोत्रों द्वारा स्तुति की।

ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।
जगाम स त्रिनयनस्तीरं क्षीर पयोनिधेः।।

तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ।।

(भा०–१०/१/१४/२०)

ब्रह्मा जी ने बड़ी सहानुभूति के साथ पृथ्वी की दुःख गाथा सुनी। उसके बाद ब्रह्माजी, शंकर स्वर्ग के अन्यान्य प्रमुख देवता तथा गौ के रूप में आयी हुई पृथ्वी को अपने साथ क्षीर सागर के तट पर ले गये। भगवान देवताओं के भी आराध्यदेव हैं। वे अपने भक्तों के समस्त क्लेशों को नष्ट कर देते हैं। वे ही जगत् के एकमात्र स्वामी हैं। क्षीरसागर के तट पर पहुँचकर ब्रह्मा आदि देवताओं ने पुरुषसूक्त के द्वारा उन्हीं परम पुरुष सर्वान्तर्यामी भगवान विष्णु की स्तुति की। स्तुति करते-करते ब्रह्माजी समाधिस्थ हो गये।

रामचरित मानस के अनुसार पृथ्वी की अधिष्ठातृ देवी भूभार हरणार्थ ब्रह्मा, शंकर आदि वरिष्ठ देवताओं के पास गई है। देवताओं ने अपने को असामर्थ्य दिखलाते हुये यह निश्चय किया कि हम सब मिलकर जगत्स्रष्टा आदि देव भगवान के पास चलकर उनसे प्रार्थना करें। वे ही पृथ्वी के भार हरण करने में पूर्ण समर्थ हैं। भगवान की प्रार्थना के लिए किस स्थान पर चला जाय, जब ऐसा विमर्श होने लगा तब उस समय उन देवगणों के बीच श्रीशंकर जी आये और उन्होंने निर्णय दिया—

हरिव्यापक सर्वत्र समाना ।
प्रेम ते प्रकट होई मैं जाना ।।

शंकर जी का यह निर्णय सबों को मान्य हुआ। पृथ्वी देवी सहित सब देवगण शुद्ध भाव से प्रभु की प्रार्थना करने लगे। प्रार्थना के अवसर पर गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुताप्रियकंता' ऐसा देवों ने कहा है। यहाँ सिंधुसुता का अर्थ श्रीलक्ष्मी हैं। उनके प्रिय कंता (पति) भगवान विष्णु हैं। यही अर्थ माना जाता है। यही कारण है कि प्रार्थना से प्रसन्न होकर आदिदेव भगवान् विष्णु ने आकाशवाणी के माध्यम से यह कहा—

नारद वचन सत्य सब करिहऊँ ।
परम शक्ति समेत अवतरिहऊँ ।।

भाव है कि जिस भगवान को नारद जी ने स्वकीय मोह प्रसंग में शाप दिया है। वही भगवान विष्णु दशरथ-नन्दन कौसल्यानन्दवर्धन होने के लिए आश्वासन देते हैं। अगर देवताओं के प्रार्थनीय विष्णु के अतिरिक्त कोई दूसरे शक्तिशाली पुरुष होते तो देवगण अपनी प्रार्थना में 'सिन्धुसुता प्रियकन्ता' ऐसा न कहते तथा प्रार्थनीय पुरुष के द्वारा—

'नारद वचन सत्य सब करिहऊँ'—ऐसा नहीं कहा जाता। स्वयं मानसकार गोस्वामी पाद ने राघवेन्द्र श्रीराम के स्वरूप वर्णन प्रसङ्ग में निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

उर मनिहार पदिक की सोभा ।
विप्र चरन देखत मन लोभा ।।

विनयपत्रिका में—

उर विगाताभृगुचरण चरुअति सूयत कोमलताई ।

दोहा—*'उर धरा सुर पदलस्यो'* (रामचरित मानस उत्तरकाण्ड)।

'विप्रपादाब्ज चिह्नम्' इत्यादि ये सब गोस्वामी पाद की पंक्तियाँ राम को विष्णु रूप में ही सिद्ध कर रही हैं। इन पंक्तियों से यह भी सिद्ध हो रहा हैं कि गोस्वामी तुलसीदास द्विभुज श्रीराम में विष्णु की स्पष्ट झाँकी का अवलोकन कर रहे थे। जिस महर्षि भृगु के चरण चिह्न राम के वक्षस्थल पर दर्शन दे रहे हैं। उस ब्रह्मर्षि का पादप्रहार किस अवसर पर हुआ था, वह प्रसंग आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

पद्मपुराण उ०ख०अ० १५० की कथा है

एक समय स्वायम्भुव मनु ऋषि मुनियों के साथ मन्दराचल पर गये। वे सब जितेन्द्रिय सर्वशास्त्र तत्त्वज्ञ और सूर्य तथा अग्नि के समान अपने तेज

से देदीप्यमान हो रहे थे। उन लोगों ने दीर्घकाल तक होने वाला एक यज्ञ आरम्भ किया। उस समय सर्वशास्त्रमर्मज्ञ, स्वधर्म परायण ऋषि मुनियों के बीच एक विशेष तत्त्वान्वेषण की जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

ब्रह्माविष्णुमहेशानां कः स्तुतो मुक्ति दो नृणाम्।
कस्य पादोदकं सेव्यं मुक्तोच्छिष्टं च पावनम्।।
कोऽव्ययः परमं धाम परमात्मा सनातनः।
कस्य प्रसादं तीर्थं च पितृणां तृप्तिदं भवेत्।।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश–इन तीनों में कौन स्तुत्य हैं, मानवों के लिए मोक्ष प्रदाता हैं, किसका चरणोदक ग्रहण करना चाहिए, किसका भोग लगाया (समर्पित) हुआ प्रसाद सेवन करना चाहिए, कौन सनातन परमात्मा हैं और किसका प्रसाद पितरों के लिए तृप्तिप्रद है। इन प्रश्नों के उत्तर में विशेष वाद-विवाद होने लगा। उन ऋषियों में भावना के अनुसार चार मत उपस्थित हो गये, किन्हीं ने रुद्र का, किन्हीं ने ब्रह्मा, किन्हीं ने सूर्य का और किन्हीं ने सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न कमलनयन वासुदेव विष्णु का नाम लेते हुए कहा कि जो शुद्ध सत्त्वमय हैं, जिनमें कल्याण गुण हैं तथा जो श्रीपति पुरुषोत्तम हैं, उन्हीं की पूजा करनी चाहिए।

रजोगुण और तमोगुण प्रधान देवों की पूजा हमलोगों के लिए कल्याणप्रद न होगी। ऋषियों ने कहा कि शुद्ध सत्त्वमय कल्याणगुण-सम्पन्न कौन है, इसका निश्चय परीक्षा करने पर ही हो सकता है। अतः हमलोग निर्विरोध भृगु जी को तीनों देवों के परीक्षार्थ प्रार्थना कर रहे हैं। वे ही उनकी परीक्षा करके निर्णय देंगे। वही सबों को मान्य होगा। श्रीभृगु जी परीक्षणार्थ सबसे पहले श्रीशंकर जी के पास गये। श्रीशंकर जी पार्वती के साथ क्रीडा कर रहे थे। अत एव नन्दीश्वर महर्षि भृगु जी को श्रीशंकर के पास जाने नहीं दिया। भृगु जी बाहर द्वार पर कई दिनों तक प्रतीक्षा करते रहे; परन्तु उन्हें शंकर जी के दर्शन नहीं हुए।

यद्यपि भृगु के आगमन की जानकारी शंकर जी को मिल गयी थी तथापि वे उनकी उपेक्षा ही करते गये। जिससे महर्षि भृगु में क्रोध का संचार हुआ और उन्होंने शंकर जी को शाप दिया कि तुमने स्त्री में आसक्त होने के कारण मेरा तिरस्कार किया है। इसलिए तुम योनि लिङ्ग स्वरूप हो जाओगे, द्विजातियों के लिए अपूज्य होगे तथा तुम्हारे समर्पित अन्न, जल, पुष्प आदि पदार्थ अग्राह्य होंगे, इसके बाद महर्षि भृगु ब्रह्मा जी के पास सत्य लोक गये। वहाँ भृगु ब्रह्मा जी को प्रणाम कर खड़े हो गये, परन्तु रजोगुण से आविष्ट ब्रह्मा ने इनका सत्कार तो दूर, इनसे बात-चीत भी नहीं की। ब्रह्मा के इस व्यवहार से क्षुब्ध हो भृगु ने उन्हें शाप दिया कि तुम लोक-पूज्य नहीं होंगे।

इसके अनन्तर विप्र भृगु क्षीर समुद्र में भगवान विष्णु के पास गये। उस समय भगवान नाग शय्या पर सोये हुए थे। श्रीलक्ष्मी उनके चरण कमल की सेवा कर रही थीं। भृगु दो देवों से निराश हो चुके थे। तीसरे देव को प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए देखकर क्रोधाविष्ट हो भगवान विष्णु को वक्षस्थल (छाती) पर जोरों से पाद प्रहार किया। इस व्यवहार से बिना क्षुब्ध हुए भगवान विष्णु ने अपने को धन्य कहते हुए प्रसन्न होकर उनका सम्मान किया।

भगवान विष्णु के इस अपूर्व व्यवहार से अति प्रसन्न हुए भृगु ने उन्हें ज्ञान, दया, शान्ति, नैसर्गिक कल्याणप्रद, सत्वगुण सागर आदि विशेषणों से अलङ्कृत करते हुए, देव मनुष्यादि सबों का एक मात्र उन्हें पूज्य स्वीकार किया। सत्वगुण प्रधान भगवान श्रीमन्नारायण उसी दिन से आभूषण स्वरूप भृगुपादलता को अपने वक्षस्थल पर सदैव धारण करते हैं।

यही कारण है कि जब कभी भक्तों की अन्तर्पुकार सुनकर इस धराधाम पर रामकृष्ण के रूप में अवतीर्ण होते हैं तो उनकी छाती पर भृगु पद चिह्न विद्यमान रहता है। यह आख्यान श्रीमद्भागवत वाराह पुराणादि अनेक शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्यधते स्थित्यादये हरि विरञ्चिहरेति संज्ञाः

श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः।।

प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इनको स्वीकार करके इस संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के लिए एक अद्वितीय परमात्मा ही विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र ये तीन नाम ग्रहण करते हैं। फिर भी मनुष्यों का परम कल्याण तो सत्त्वगुण स्वीकार करने वाले श्रीहरि से ही होता है। इसी तरह विष्णुपुराण के इस श्लोक को देखकर संदेहग्रस्त लोग यह कह बैठते हैं कि तीनों देव एक हैं।

सृष्टिस्थित्यन्तकारिणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।।

अर्थात्—एक जनार्दन भगवान सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाले ब्रह्मा विष्णु और शिव ऐसे तीन नामों को प्राप्त होते हैं। इस श्लोक से ब्रह्मा विष्णु और शिव में साम्य प्रतीत होता है; परन्तु अन्तर्यामी उपनिषद के अनुसार ब्रह्मा शंकर आदि शरीर हैं और श्रीविष्णु शरीरी हैं। उसी शरीर-शरीरी भाव के कारण ब्रह्मा और शंकर के साथ विष्णु का तादात्म्य बतलाया गया है। तत्त्वतः ब्रह्मा और शंकर के साथ विष्णु का साम्य नहीं है। पूर्वोक्त प्रसङ्ग से पाठाकों को विष्णुतत्त्व का पूर्ण परिज्ञान हो चुका है।

अतः त्रिदेव साम्य अर्थात् (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) तीनों देव समान हैं ऐसा कथन शास्त्र ज्ञान विहीनता का सूचक समझा जायगा। त्रिदेव के अन्दर जो विष्णु हैं वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। वे ही सृष्टि कार्य का भार ब्रह्मा को एवं संहार का भार शंकर को देकर स्वयं उनके बीच पालन का काम करते हैं। इसीलिए श्रीयामुनाचार्य जी ने लिखा है कि—

कोऽन्यः प्रजा पशुपतिः परिपाति कस्य
पादोदकेन स शिवः स्वशिरोधृतेन।
कस्योदरे हर विरञ्चिमुखः प्रपञ्चः
को रक्षति ममजनिष्ट च कस्य नाभेः।।

क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यः
कः केन चैष परवानिति शक्यशङ्कः।

अर्थात् उत्तम फलों को प्रदान करने से ब्रह्मा और रुद्र का पालन और कौन करता है? वह शिव अपने सिर से धारण किये हुए किसके चरणोदक से मंगल कारक बने? रुद्र, ब्रह्मा आदि स्वरूप यह प्रपञ्च किसके उदर में लीन होता है? इस प्रपञ्च की रक्षा कौन करता है? ये सब किसकी नाभी से उत्पन्न हुए? आप से भिन्न कौन अन्य जीव इस प्रपञ्च को अपने पद से नापकर निगलकर, फिर उद्गिरण करता है? यह प्रपञ्च आपके अतिरिक्त किसी दूसरे के परतन्त्र है ऐसा कोई शंका भी कर सकता है? अर्थात् आप ही इस प्रपञ्च के परश्रेष्ठ हैं और कोई हो सकता है ऐसी शंका भी नहीं कर सकते।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो
जागृवाꣳ सः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।

उपनिषद्—

'साऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्'।

'इदं विष्णुविचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्'।

ऐसे अनेक वैदिक मन्त्रों से विष्णु का परब्रह्म के रूप में वर्णन किया गया है।

हनुमान ने प्रथम साक्षात्कार किया श्रीराम का

हनुमान जी ऋष्यमूक पर्वत से श्रीराम और लक्ष्मण के पास प्रस्थान किये। सुग्रीव की आज्ञा के अनुसार ही वे वानर का रूप त्यागकर भिक्षु का रूप धारण कर दोनों रघुवंशी वीरों के पास गये।

कपिरूपं परित्यज्य हनुमान् मारुतात्मजः ।
भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः ।।

वे दोनों मानव रूप में थे। सुग्रीव ने विचार किया कि हनुमान को वानर रूप में जाने पर दोनों सन्देह ग्रस्त हो जायेंगे। उनका यथार्थ रहस्य का पता नहीं चलेगा। अतः हनुमान मानव रूप में जाँय। हनुमान को ऐच्छिक रूप धारण करने का वरदान ब्रह्मा से प्राप्त था।

हनुमान जी सुग्रीव के आदेशानुसार वानर रूप त्यागकर भिक्षुरूप में गये। भिक्षु रूप का अर्थ है नैष्ठिक ब्रह्मचारी का रूप। भूषण टीकाकार ने अमरकोश के आधार पर भिक्षुरूप का अर्थ संन्यासी किया है। वाल्मीकि जी ने कहा है कि 'शठबुद्धितया कपिः' अर्थात् शठ बुद्धि से हनुमान जी वानर रूप को त्यागकर भिक्षु रूप बनाया। शठ बुद्धि का अर्थ है—वञ्चक बुद्धि से। वे भगवान श्रीराम को ठगने के लिए भिक्षुरूप नहीं धारण किये थे। केवल सुग्रीव के सन्तोष के लिए ही हनुमान ने अपने वास्तविक रूप को छिपाकर भिक्षुरूप धारण किया था।

श्रीगोविन्दराज ने त्रिदण्डी संन्यासी का रूप हनुमान जी ने धारण किया था ऐसा कहा है। रामानुजीय टीकाकार ने कहा कि त्रिदण्डी वेष था। उनके शरीर में नख से शिख तक रोम थे, अतः उनका वानर रूप छिपने वाला नहीं था। इसलिए उन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया होगा। मनुष्य में ब्रह्मचारी वेष धारण करना ही प्रसङ्गानुकूल ज्ञात होता है।

तदनन्तर हनुमान जी ने विनीत भाव से उन दोनों रघुवंशी वीरों के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाली मधुर वाणी में उनके साथ वार्तालाप आरम्भ किया।

विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च ।
आबभाषे च तौ वीरौ यथावत् प्रशशंस च ।।

वाल्मीकि ने लिखा— ***'विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रतिपत्य च'*** विनीत होकर हनुमान जी ने प्रणिपात किया अर्थात् भगवान् की शरणागति की। हनुमान दासभाव से श्रीराम के शरणागत हो गये, फिर उन दोनों भाईयों की प्रशंसा करके उनका विधिवत् पूजन किया। पश्चात् वीरों से परिचय पूछना आरम्भ किया। हनुमान जी छल से ब्राह्मण ब्रह्मचारी के वेष में गये थे; परन्तु प्रभु का दर्शन होते ही उनकी भावना बदल गयी। उन्होंने श्रीराम और लक्ष्मण के मुख से उनका परिचय प्राप्त किये बिना ही सुग्रीव का और अपना परिचय दे दिया है। पुनः हनुमान ने भिक्षुरूप धारण करने का कारण बताकर सुग्रीव वाली से त्रस्त हैं, वे आपसे मित्रता करना चाहते हैं, इन सभी बातों को हृदय खोलकर श्रीराम से कह दिया।

तदनन्तर उन्होंने दोनों भाईयों से कहा कि आप सत्य, पराक्रमी, राजर्षियों और देवताओं के समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रत का पालन करने वाले ज्ञात हो रहे हैं। आपके शरीर की कान्ति बड़ी सुन्दर है। आप दोनों के अङ्गों की कान्ति सुवर्ण के समान प्रकाशित हो रही है। आप दोनों बड़े धैर्यशाली प्रतीत हो रहे हैं। आपकी भुजाएँ विशाल हैं। आप जटा चीर-बल्कल धारण किये हुए हैं, क्या देव लोक से आये हैं? अथवा

आप दोनों सूर्य, चन्द्रमा ही तो नहीं हैं? आपके रूप देवताओं के तुल्य है। आपके कन्धे सिंह के समान और चाल साँड़ों के समान है। आपकी भुजाएँ विशाल और सुन्दर हैं। आप राज्य भोगने के योग्य हैं। आप अपने समस्त भुजाओं को आभूषणों से विभूषित क्यों नहीं किया ?

आयताश्चसुवृताश्च बाहवः परिघोपमाः ।
सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः ।।

श्रीहनुमान जी ने किष्किन्धाकाण्ड के तृतीय सर्ग के १५वें श्लोक में भगवान् श्रीराम से कहा कि आपकी भुजाएँ विशाल, सुन्दर, गोल-गोल परिघ के समान सुदृढ़ हैं। इस श्लोक में भगवान् श्रीराम को बाहवः ऐसा बहुवचनान्त बाहु शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ शङ्का यह है कि जब भगवान् श्रीराम की दो ही भुजाएँ थीं तो हनुमान ने द्विवचन का प्रयोग न करके बहुवचन का प्रयोग क्यों किया?

इसके तीन भाव हैं—(१) रामस्य दक्षिणो बाहुः से लक्ष्मण को श्रीराम का दक्षिण बाहु कहा गया है। इस तरह दोनों भाइयों को मिलाकर चार भुजाएँ हो जाती हैं। इस दृष्टिकोण से हनुमान जी ने बाहवः ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है।

(२) हनुमान भगवान के भक्त हैं, अतः उनके लिये भगवान श्रीराम ने चतुर्भुज रूप में दर्शन दिया है।

(३) दोनों बाहु विशेष बड़े होने से चार बाहु के बराबर मालूम हो रहे थे। अत एव 'बाहवः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है।

श्रीहनुमान जी ने भगवान् श्रीराम से कहा—***'सर्वभूषणभूषार्हाः किमर्थं न विभूषिताः'***। सभी भूषणों को विभूषित करने वाली आपकी भूजाएँ हैं। ***'आभरणस्याभरणम्'*** आभरणों का भी आभरण भूषण आपकी भुजाएँ हैं। इसका भाव गोविन्दराज जी ने निम्न प्रकार से दिया है—

(१) आप भुजाओं में भूषणों को धारण कर उनको क्यों नहीं कृतार्थ किया? अर्थात् क्यों नहीं प्रकाशित किया?

(२) लोगों के दृष्टिदोष को दूर करने के लिए इन भुजाओं को भूषणों से क्यों नहीं आच्छादित किया?

(३) भूषणों से आच्छादित सौन्दर्य ही हम सभी को वश में करने में समर्थ था फिर निवारण सौन्दर्य का प्रदर्शन आपने क्यों किया?

(४) जैसे राजकुमारों के मुख ताम्बूल के बिना क्षणमात्र में मलिन हो जाते हैं, वैसे ही क्षणमात्र भी वियोग सहने में असमर्थ भूषणों का इन भुजाओं से वियोग क्यों करा दिया? भूषण रहित इन भुजाओं से किस शत्रु का समूल नाश करने का सङ्कल्प आपने कर लिया है? इस प्रकार दिव्य वैकुण्ठ धाम में विराजमान पार्षदों को छोड़कर चार रूपों में अवतार लेने का क्या प्रयोजन है?

मैं समझता हूँ कि आप पर्वतों, वनों, आदि से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी की रक्षा करने योग्य हैं। आपके धनुष विचित्र, चिकने और सुवर्ण से विभूषित हैं। ये इन्द्र के वज्र के समान मालूम हो रहे हैं। प्राणों का अन्त कर देने वाले सर्पों के समान भयङ्कर तथा तीक्ष्ण बाणों से भरे हुए आप दोनों के तुणीर बड़े सुन्दर दिखायी देते हैं। आपके ये दोनों खड्ग बहुत बड़े हैं। ये सोने से विभूषित कर दिये गये हैं। आप दोनों वीर कौन हैं? और इस वन्य प्रदेश में किसलिये विचर रहे हैं? इस प्रकार श्रीहनुमान जी ने अनेक बार श्रीराम से पूछा। जब श्रीराम उत्तर नहीं दे सके, तब उन्होंने कहा कि मैं बार-बार आपका परिचय पूछ रहा हूँ, आपलोग मुझे उत्तर क्यों नहीं दे रहे हैं? जब हनुमान जी को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि इन वीरों से सुग्रीव को धोखा नहीं होगा, बल्कि सब प्रकार का सहयोग ही होगा,

तब उन्होंने सुग्रीव तथा अपना परिचय देते हुए कहा कि इस ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं, जो धर्मात्मा और वीर हैं। उनके भाई वाली ने उन्हें घर से निकाल दिया है। उससे वे दु:खी होकर समस्त भूमण्डल में भ्रमण कर रहे हैं। उन्हीं महात्मा सुग्रीव के भेजने से मैं आपके पास आया हूँ। मेरा नाम हनुमान है। मैं भी वानर जाति का ही हूँ। महात्मा सुग्रीव आप दोनों से मित्रता करना चाहते हैं। मैं उन्हीं का मन्त्री हूँ। मैं वायुदेव का वानर जातीय पुत्र हूँ। मुझे इच्छा के अनुसार सर्वत्र जाने की शक्ति प्राप्त है। मैं जैसा चाहूँ वैसा रूप धारण कर सकता हूँ। इस समय सुग्रीव के प्रिय करने के लिए अपने वानर रूप को छिपाकर भिक्षुक रूप में ऋष्यमूक पर्वत से आपके पास आया हूँ। हनुमान जी दोनों वीरों से ऐसा कहकर मौन हो गये।

●

आचार्य-उपदेश

भगवान के चरणारविन्द के शरणागत ज्ञानियों में अग्रगण्य विलक्षणाधिकारी प्रपन्न को उपाय में प्रवृत्त होना अर्थात् अपनी रक्षा के लिए स्वयं प्रयत्न करना स्वरूप विरुद्ध है। उपेय (कैङ्कर्य) को छोड़ बैठना रुचि विरुद्ध है। (अर्थात् कैकंर्य में रुचि न हो तो जाना जायगा कि इसका भगवान में प्रेम नहीं) उपायानुष्ठान करना स्वरूप हानि है तथा उपेय में प्रवृत्त न होना रुचि विरोधी है। इन दो विषयों के निदर्शनभूत श्रीसीताजी तथा लक्ष्मण जी हैं। श्रीसीताजी सामर्थ्य रहने पर भी अपने स्वरूप पारतन्त्रय का अनुसंधान कर अशोकवाटिका में बैठी रहीं। लक्ष्मणजी को भगवान ने 'घर में रहो' ऐसा कहा, परन्तु उन्होंने कहा कि दास से आपको छोड़कर घर में रहा जाता ही नहीं। ऐसा कह भगवान की आज्ञा का भी अतिक्रमण करके वन को गये तथा साथ जाकर सब प्रकार का कैङ्कर्य किया।

संसार संबन्ध को छोड़ परमपद की इच्छावाले प्रपन्न को चाहिए कि श्रीमन्त्र रत्न के दो खण्ड़ों के अर्थानुसंधान से कालक्षेप करता रहे। श्रीलक्ष्मीजी के इच्छानुसार चलना भगवान का स्वभाव है। अत एव श्रीलक्ष्मीजी के पुरुषकार द्वारा उनके शरण में जाने पर हमारे गुण दोषों का विचार न कर भगवान आश्रितों के अत्यन्त सुलभ हो जाते हैं, अत एव मेरे लिए अत्यन्त अनिष्ट कारक अनादिकाल से आज तक मुझे अपने वश में किये हुए संसार का वासना सहित नाश करने के लिए तथा मुझे अत्यन्त इष्ट, निरतिशयानन्द दायक, अनन्त पुनरावृत्ति रहित मोक्ष की प्राप्ति के लिए अवहित साधन (व्यवधान रहित साधन) रूप से श्रीमन्नारायण के दोनों चरणारविन्दों का आश्रयण लिया हूँ (शरणागत हुआ हूँ) यह पूर्व खण्ड का अर्थानुसंधान है। लक्ष्मी जी सहित चराचर के स्वामी नारायण के चरण कमलों की सन्निधि में सर्वकाल सर्वदेश सर्वावस्थोचित समस्त कैकंर्य करने की प्राप्ति के लिए तथा कैकंर्य विरोधी अहंकार ममकार की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ (यह उत्तर खण्ड का अर्थानुसंधान हुआ)।

इसकी अनुक्रमणिका इस प्रकार है। जब सापराधी संसारी चेतन सर्वज्ञ, सर्वेश्वर के शरणागत होता है तब उसके अपराधों का विचार भगवान के मन में न आवे इसलिए अपने सौन्दर्य तथा गुणों से उनको मोहित कर चेतन को उनके चरण कमलों में पहुँचा देने वाली अमोघ पुरुषकार रूपा श्रीलक्ष्मी जी का स्वरूप 'श्री' शब्द से कहा गया है। 'मत' प्रत्यय से

नित्य योग रूप महा संपदा कही गई है, जिसका तात्पर्य यह है कि श्रीलक्ष्मीजी भगवान को छोड़कर कभी अलग नहीं रहतीं (इससे चेतन की जब इच्छा हो तब शरणागति करने की सुविधा हो गई) नारायण पद से श्रीलक्ष्मीजी के पुरुषकार से भी अधिक भगवान के वात्सल्यादि गुण योग कहा गया है । 'चरणौ' शब्द से बतलाया गया है कि भगवान हमारे अपराधों का विचार कर हमको स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा विचार कर चेतन पीछे न हटे, समान आकार वाले भगवान के सुन्दर चरणारविन्द युगल बरबस चेतन को अपने स्वाधीन कर लेते हैं। (अर्थात् भगवान छोड़ना चाहें तो भी उनके चरण कमल चेतन को नहीं छोड़ते। यहाँ चरणौ शब्द से भगवान का दिव्य मंगल विग्रह उपलक्षित है। अर्थात् दिव्य मंगल विग्रह अपनी शोभा से चेतन को बलात् वश में कर लेते हैं। भगवान के कल्याणगुण बहुश: ज्ञानियों को ही वश में करते हैं; परन्तु दिव्य मंगल विग्रह ज्ञानी अज्ञानी, नास्तिक, आस्तिक सबको स्वाधीन कर लेता है। यह चरण कमल ही चेतन की इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट निवृत्ति के साधन हैं। यह विषय 'शरणं' शब्द से कहा गया है, प्रपद्ये इस पद से यह बतलाया गया है कि यह चेतन अनादिकाल से जो प्रतिकूल आचरण करता आया है उनको त्याग कर आज प्रेम पूर्वक भगवान की शरण आया है। 'प्रपद्ये' यह वर्तमान कालिक क्रिया पद है, यह पूर्व खण्डार्थ हुआ। अब उत्तरखण्ड कहा जाता है। इसमें 'श्रीमते' इस पद से बतलाया गया है कि उपेय दशा में भी श्रीलक्ष्मीजी पुरुषकार भूता तथा स्वामिनी रूप से भगवान के साथ नित्य रहा करती हैं (उपेय दशा में श्रीलक्ष्मीजी भगवान के पास नित्य रहकर चेतन के कैंकर्य को दस गुना करके भगवान से कहती हैं जिससे भगवान को चेतन पर प्रेम हो) नारायण पद से भगवान का सर्व स्वामित्व कहा गया है ''आय'' इस चतुर्थी विभक्ति से प्रपन्न चेतन को इस युगल जोड़ी से स्वरूपानुरूप कैंकर्य की प्रार्थना करनी चाहिए यह बतलाया गया है। आय शब्द के अनन्तर ''अध्याहार्य स्व'' शब्द से कैङ्कर्य पाने का प्रकार कहा गया है। 'नम:' शब्द से बतलाया गया है कि कैङ्कर्य करते समय (इस चेतन को अपने कैङ्कर्य से प्रसन्न भगवान का) मुख विकास देखकर आनन्दित होना चाहिए। अर्थात् अपने मन के आनन्द से आनन्दित नहीं होना चाहिए परन्तु भगवान् का आनन्द सूचक मुख विकास देख प्रसन्न होना चाहिए। (कैङ्कर्य अपनी प्रसन्नता के लिए नहीं किन्तु भगवान की प्रसन्नता के लिए करना चाहिये; क्योंकि अपनी प्रसन्नता के लिए करने से स्वार्थ बुद्धि आ जायेगी।)

●

स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे

भगवान वराह द्वारा हिरण्याक्ष की मृत्यु के बाद शोक सन्तप्त उनके परिवारों से हिरण्यकशिपु ने कहा कि कहीं विशेष स्थल में लोग इकट्ठे हो जाते है; परन्तु उनका मिलना-जुलना थोड़ी देर के लिए ही होता है; वैसे ही अपने कर्मों के फेर से दैववश जीव भी मिलते और बिछुड़ते हैं। वास्तव में आत्मा, नित्य, अविनाशी, शुद्ध, सर्वगत, सर्वज्ञ और देह इन्द्रिय आदि से पृथक् है। वह अपनी अविद्या से ही देह आदि की सृष्टि करके भोगों के साधन सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करता है जैसे हिलते हुए पानी के साथ उसमें प्रतिबिम्बत होने वाले वृक्ष भी हिलते हुए-से जान पड़ते हैं और घूमायी जाती हुई आँखों के साथ सारी पृथ्वी ही घूमती हुई सी दिखायी देती है, कल्याणि! वैसे ही विषयों के

कारण मन भटकने लगता है और वास्तव में निर्विकार होने पर भी उसी के समान आत्मा भी भटकता हुआ सा जान पड़ता है। उसका स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है फिर भी वह सम्बन्धी सा जान पड़ता है। सब प्रकार से शरीर रहित आत्मा को शरीर समझ लेना यही तो अज्ञान है। इसी से प्रिय अथवा अप्रिय वस्तुओं का मिलना और बिछुड़ना होता है। इसी से कर्मो के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण संसार में भटकना पड़ता है। जन्म, मृत्यु अनेक प्रकार के शोक, अविवेक, चिन्ता और अविवेकों की विस्मृति सबका कारण यह अज्ञान ही है। इस विषय में एक प्राचीन इतिहास है। वह इतिहास मरे हुए मनुष्य के सम्बन्धियों के साथ यमराज की बातचीत है। तुम लोग ध्यान से उसे सुनो।

उमीनर देश में एक बड़ा यशस्वी राजा था। उसका नाम था सुयज्ञ। लड़ाई में शत्रुओं ने उसे मार डाला। उस समय उसके भाई-बन्धु उसे घेरकर बैठ गये। रानियों को दैववश अपने पतिदेव उमीनर नरेश की यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। वे हा नाथ! हम अभागिनी तो वेमौत मारी गयी। यों कहकर बार-बार जोर से छाती पीटती हुई अपने स्वामी के चरणों के पास गिर पड़ी। उनके केश और गहने इधर-उधर बिखर गये, वे करुण-क्रन्दन के साथ विलाप कर रही थी; जिसे सुनकर मनुष्यों के हृदय में शोक का संचार हो जाता था। हाय! विधाता बड़ा क्रूर है। स्वामिन! उसी ने आज आपकों हमारी आँखों से ओझल कर दिया। पहले तो आप समस्त देशवासियों के जीवनदाता थे। आज उसी ने आपको ऐसा बना दिया कि आप हमारा शोक बढ़ा रहे हैं। पतिदेव! आप हमसे बड़ा प्रेम करते थे, हमारी थोड़ी-सी सेवा को बड़ी करके मानते थे। हाय! अब आपके बिना हम कैसे रह सकेंगी। हम आपके चरणों की चेरी हैं। वीरवर आप जहा जा रहे हैं, वही चलने को हमें भी आज्ञा कीजिए। वे अपनी पति की लाश पकड़कर उसी प्रकार विलाप करती रहीं। उस मूर्दे को वहाँ से दाह के लिए जाने देने की उनकी इच्छा नहीं होती थी। इतने में ही सूर्यास्त हो गया। उस समय उशीनर राज के सम्बन्धियों ने जो विलाप किया था, उसे सुनकर वहाँ स्वयं यमराज बालक के वेष में आये और उन्होंने उन लोगों से कहा।

यमराम बोले—बड़े आश्चर्य की बात है, ये तो मुझसे सयाने है। बराबर लोगों का मरना जीना देखते रहे हैं, फिर भी इतने मूढ़ हो रहे हैं। अरे! यह मनुष्य जहाँ से आया था, वहीं चला गया। इन लोगों को भी एक न एक दिन वहीं जाना है, फिर झूठमूठ ये लोग इतना शोक क्यों करते हैं? हम तो तुमसे लाखगुने अच्छे हैं, परम धन्य है, क्योंकि हमारे माँ-बाप ने हमें छोड़ दिया है। हमारे शरीर में पर्याप्त बल भी नहीं है फिर भी हमें कोई चिन्ता नहीं है। भेड़िये आदि हिंसक जन्तु हमारा बाल भी बाँका नहीं कर पाते। जिसने गर्भ में मेरी रक्षा की थी, वही इस जीवन में भी हमारी रक्षा करता रहता है। देवियों जो अविनाशी ईश्वर अपनी इच्छा से इस जगत् को बनाता है, रखता है और बिगाड़ देता है, उस प्रभु का यह एक खिलौना मात्र है। वह इस चराचर जगत् को दण्ड या पुरस्कार देने में समर्थ है। भाग्य अनुकूल हो तो रास्ते में गिरि हुई वस्तु ज्यों की त्यों पड़ी रहती हैं, परन्तु भाग्य के प्रतिकूल होने पर घर के भीतर तिजोरी में रखी हुई वस्तु भी खो जाती है। जीव बिना किसी सहारे के दैव की दया दृष्टि से जंगल में भी बहुत दिनों तक जीवित रहता है; परन्तु दैव के विपरीत होने पर घर में सुरक्षित रहने पर भी मर जाता है।

रानियो! सभी प्राणियों की मृत्यु अपने पूर्व जन्मों की कर्म वासना के अनुसार समय पर होती है और उसी के अनुसार उनका जन्म भी होता है,

परन्तु आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न है। इसलिए वह उसमें रहने पर भी उसके जन्म मृत्यु आदि धर्मों से अछूता ही रहता है जैसे—मनुष्य अपने मकान को अपने से अलग और मिट्टी का समझता है वैसे ही यह शरीर भी अलग और मिट्टी का है। मोहवश वह इसे अपना समझ बैठता है। जैसे बुलबुले आदि पानी के विकार, घड़े आदि मिट्टी के विकार और गहने आदि स्वर्ण के विकार समय पर बनते है, रूपान्तरित होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्हीं तीनों विकार से बना हुआ यह शरीर भी समयानुसार बन बिगड़ जाता है। जैसे काठ में रहने वाली व्यापक अग्नि स्पष्ट ही उससे अलग है, जैसे देह में रहने पर भी वायु का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे अकाश सब जगह एक सा रहने पर भी कोई दोष-गुण से लिप्त नहीं होता वैसे ही समस्त देहेन्द्रिय में रहने वाला और उनका आश्रय आत्मा भी उनसे अलग और निर्लिप्त है। मूर्खों! जिसके लिए तुम सब शोक कर रहे हो वह सुयज्ञ नामक शरीर तो तुम्हारे सामने पड़ा है। तुम लोग इसी को देखते थे। इसमें जो सुनने वाला और बोलने वाला था, वह तो कभी-किसी को नहीं दिखायी पड़ता था। फिर आज भी नहीं दिखायी दे रहा है तो शोक क्यों? (तुम्हारी यह मान्यता है कि 'प्राण ही बोलने या सुनने वाला था, सो निकल गया' मूखर्तापूर्ण है, क्योंकि सुषुप्ति के समय प्राण तो रहता है पर न वह बोलता न सुनता है) शरीर में सब इन्द्रियों की चेष्टा का हेतुभूत जो महाप्राण है, वह प्रधान होने पर भी बोलने या सुनने वाला नहीं है, क्योंकि वह जड़ है, देह और इन्द्रियों के द्वारा सब पदार्थों का द्रष्टा जो आत्मा है वह शरीर और प्राण दोनों से पृथक् है। यद्यपि वह परिच्छिन्न नहीं है, व्यापक है फिर पंचभूत, इन्द्रिय और मन से युक्त नीचे-ऊँचे (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों को ग्रहण करता और अपने विवेक बल से मुक्त भी हो जाता है। वास्तव में वह इन सबसे अलग है जब तक वह पाँच प्राण, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन इन सतरह तत्त्वों से बने हुए लिङ्ग शरीर युक्त रहता है, तभी तक कर्मों से वह बन्धा रहता है और इस बन्धन के कारण ही माया से होने वाले मोह और क्लेश बराबर उनके पीछे पड़े रहते हैं।

प्रकृति के गुणों और उनसे बनी हुई वस्तुओं को सत्य समझना अथवा कहना झूठमूठ का दुराग्रह है। मनोरथ से समय को कल्पित और स्वप्न के समय की दीख पड़ने वाली वस्तुओं के समान इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सब मिथ्या है। इसलिए शरीर और आत्मा का तत्त्व जानने वाले पुरुष न तो अनित्य शरीर के लिए शोक करते हैं और न नित्य आत्मा के लिए ही, बल्कि ज्ञान की दृढ़ता के अभाव के कारण जो लोग शोक करते रहते हैं, उनका स्वभाव बदलना भी बहुत कठिन है।

●

रक्षा-बन्धन

श्रावण-शुक्ल-पूर्णिमा को मनाये जाने वाला यह महान् पर्व महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक है। इस पर्व को श्रावणी पर्व के रूप में सारे द्विजाति लोग वैदिक काल से आत्म कल्याण एवं आत्म-शोधन पर्व के रूप में मानते आ रहे हैं।

यह रक्षा बन्धन हजार दो हजार वर्षों का पर्व नहीं, अपितु करोड़ों वर्ष पूर्व से चला आ रहा है। प्राचीनकाल में देव-दानव का युद्ध हुआ था। उस युद्ध के समय इसी तिथि को इन्द्र की पत्नी महारानी सची ने वैदिक-मंत्रों से अभिमंत्रित कर एक रक्षा-सूत्र अपने पति इन्द्र के हाथ में बाँधी थी। इसी रक्षा-सूत्र के बल पर इन्द्र अभय हो गये एवं

शत्रुओं पर विजय प्राप्त किये थे। उस समय से प्रतिवर्ष नये आत्मविश्वास के साथ यह पर्व श्रावण पूर्णिमा को मनाया जाता है।

सर्वरोगोपशमनं सर्वाशुभविनाशनम्।
सकृत्कृतेनाष्दमेकं येनरक्षा कृता भवेत्।।

(भविष्यपुराण)

अर्थात् इस पर्व पर धारण किया हुआ यह रक्षा-बन्धन रूपी सूत्र सभी रोगों तथा अशुभ कार्यों का विनाशक है, इस सूत्र को एक बार वर्ष में धारण करने से वर्ष भर मनुष्य रक्षित हो जाता है।

अब विचारणीय विषय यह है कि यह रक्षा सूत्र शास्त्रानुकूल कैसा हो? वेद जानने वाले ब्राह्मणों के द्वारा वेद मंत्रों से अभिषिक्त, स्वर्ण, अक्षत, सरसों दूर्वा, सर्वौषधि से युक्त रक्षा सूत्र बाँधने का विधान शास्त्रों में है। एक तरह से यह एक मनो-वैज्ञानिक बन्धन है। रक्षा सूत्र मन, वचन, कर्म द्वारा उत्पन्न पापों को दूर करने वाला है, साथ ही दृढ़ प्रतिज्ञ रहने का भी मनोभाव इस सूत्र से मिलता है।

वर्षाऋतु में प्राणीमात्र में विभिन्न रोग होना स्वाभाविक है। रक्षा-सूत्र में अचूक औषधियों के रहने के कारण वह कीटाणुनाशक तथा रोग-निरोधक है; किन्तु सबसे अधिक वेदमन्त्रों का प्रभाव होता है। जिसके द्वारा यह मनोभाव दृढ़ होता है कि—''इस सूत्र को धारण करने के बाद वह वर्षभर के लिए पूर्ण रक्षित है'' तथा उसे अब किसी से भय नहीं रहा।

समय चक्र चलता रहा। अनेक परिवर्तन हुआ। रक्षा-बन्धन में भी परिवर्तन कालक्रमेण हुआ। भारतवर्ष पराधीन था। हिन्दुजाति एवं हिन्दुधर्म पर संकट थे। मुगल शासक यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति का विनाश करने के लिये हिन्दु माँ-बहनों की लाज एवं मर्यादा लूट रहे थे। ऐसी परिस्थिति में नई प्रेरणा के साथ रक्षा-बन्धन यहाँ की सभ्यता और संस्कृति को बचाने में अपना पूर्ण योगदान दिया। जो ''राखी'' (रक्षासूत्र) पहले पति एवं पत्नी के प्रेम और सौभाग्य रक्षा की प्रतीक थी, वह राखी आज भाई-बहन के पवित्र प्रेम बन्धन के रूप में बदल गई। इस राष्ट्र की राजपूत बहनें उस काल में राखी भेजकर अपने धर्म, इज्जत एवम् अस्तित्त्व की रक्षा करने हेतु राजपूत वीरों से सहायता याचना किया करती थीं। उस समय राजपूतवीरों ने सूत्र के दो धागे के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। उस काल में तो इस राखी के नियम, महत्त्व एवं प्रचलन को मुस्लिम बन्धु हुमायूँ ने भी पहचाना और उसका समादर किया। महारानी करुणावती मुगलशासक हुमायूँ को राखी भेजकर अपनी सहायता के लिये पुकारा। हुमायूँ इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। सेना सहित मारवाड़ पहुँचकर अपने ही भाई मुस्लिम शासक के युद्ध किया। भाई एवं बहन के मूर्त प्रेम का रूप राखी को दिया हुमायूँ ने।

परन्तु आज की राखी न उन वेद मंत्रों एवं सर्वौषधि से युक्त है, न अपने बहनों के धर्म रक्षार्थ दृढ़ संकल्पित। आज राखी रेशमी धागे से बना बड़ा ही सुन्दर है, किन्तु रेशमी डोरे वाला फिसलन का गुण इन राखियों में भी आ गयी है। आज का राखी सिर्फ फैशन का रूप ले लिया है। फिसलन का विशेषगुण इसमें आ गया है। खैर, इसके बावजूद रक्षाबन्धन वैदिक एवं महान् राष्ट्रिय पर्व है। जब देवत्व और मनुष्यत्त्व दानवता के शिकजों में जकड़ा हुआ था। उसी काल में इसका जन्म हुआ है।

इस तरह यह शक्ति दृढ़सङ्कल्प, साहस, विजय एवं मान-मर्यादा के रक्षार्थ युद्ध में जाने वाले वीरों के हृदय में दृढ़ भावना भरने वाला सूत्र है। यह एकता का महामंत्र, सभ्यता एवं संस्कृति हेतु रक्षा-मंत्र, संगठन का सिंहनाद तथा जीवन का जीता जागता प्रतीक है।

विद्वान् वही है जिसे परतत्त्व का ज्ञान हो

श्रीपराशर भट्ट प्रतिदिन भगवद्विषय का प्रवचन करते थे। उस समय उनके पास दो महात्मा भिक्षा माँगने के लिए आते थे। उनमें एक महात्मा सभी शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। दूसरे महात्मा का साधारण ज्ञान था; परन्तु परमैकान्ति थे। अर्थात् अपना मन परमतत्त्व नारायण के चिन्तन में लगाये रहते थे। दोनों महात्मा अपने आगमन की सूचना देने के लिए भट्टरस्वामी के पास ऊँचे स्वर से किसी स्तोत्र का पाठ करते हुए आते थे। श्रीपराशरस्वामी अपने मकान के पास विद्वान् के आने की सूचना पाते ही एक शिष्य को कह देते थे कि उन्हें मुट्ठीया से चावल दे दो। एक शिष्य उन्हें मुट्ठीभर चावल दे देता था। महात्मा जी भी भिक्षा लेकर चले जाते थे। तत्पश्चात् दूसरे महात्मा उनके पास आते। दूसरे महात्मा के आते ही पराशर स्वामी अपना प्रवचन रोककर स्वयं उठकर उनसे मिलते, स्वागत करते, प्रणाम और कुशल प्रश्नपूर्वक उन्हें भिक्षा दे देते थे। वे महात्मा भिक्षा लेकर लौट जाते थे। यह काम रोज ही चलता रहता था। यह देखकर शिष्यों ने विचार किया कि गुरुजी यह क्या कर रहे हैं? विद्वान् का तिरस्कार और मूर्ख का सत्कार, एक दिन एक शिष्य ने उनसे इसका कारण पूछा कि एक अच्छे विद्वान् को आप एक शिष्य से एक मुट्ठी चावल दिला देते हैं और एक साधारण महात्मा को आने पर आप प्रवचन छोड़कर उनसे हृदय से मिलते और सामाचार पूछकर उन्हें भिक्षा देते हैं, इसमें क्या कारण है? गुरु पराशर भट्ट जी शिष्य का बचन सुनकर चुप रह गये। दूसरे दिन सबरे जब वे विद्वान् भिक्षा माँगने आये। तब पराशर भट्ट ने अन्दर बुलाया और स्वागत सत्कार पूर्वक हाथ जोड़ कर सविनय पूछा कि श्रीमान् विद्वर कृपया बता दीजिये कि परमतत्त्व के बारे में आपका क्या मत है? विद्वान् ने उत्तर दिया कि भगवन्! मैं क्या कहूँ। शास्त्र तो एक प्रकार के निर्णय नहीं देता है,वेद का एक वाक्य कहता है कि प्रलय काल में हिरण्यगर्भ ही था। उसे चतुर्मुख ब्रह्मा परतत्त्व सिद्ध होता है, दूसरा वाक्य शिव को परतत्त्व बतलाता है, तीसरा वाक्य इन्द्र को ही परतत्त्व घोषित करता है, चतुर्थ वाक्य नारायण को परतत्त्व बतलाता है। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध वेद बचन मिलते हैं। अत: मैं निश्चित रूप से क्या कहूँ। किसी प्रकार का निश्चय हो ही नहीं सकता। पराशर भट्ट स्वामी ने उस विद्वान् से पूछा यह बात तो ठीक है; परन्तु आप विद्वान है, अपनी विदुता से श्रुति वाक्यों को समरस बनाकर एक निश्चित अर्थ निकाल सकते हैं। अत: हमें यही बतला दें कि आपका अपना अभिप्राय क्या है? विद्वान् बोले हमें कोई निश्चय नहीं हो पाया है यह सुनकर पराशर स्वामी ने उस विद्वान् को बिना भिक्षा दिये ही बिदा कर दिया। विद्वान् खिन्न होकर निकल गये। थोड़ी देर में दूसरे महात्मा आये। जिन्हें लोग अल्पज्ञ मानते थे। पराशर स्वामी ने उनका स्वागत किया। अन्दर बुलाकर दिव्यासन पर बिढाया और सविनय पूछा कि स्वामिन्! यद्यपि यहाँ पर रोज कुछ प्रवचन होता है, परन्तु परमपुरुषार्थ, परमतत्त्व के विषय में हमें कोई निश्चय नहीं हो पाया। अत: आप हमें इस विषय का निर्णय सुनाने की कृपा करे। यह सुनकर अश्रुपूर्ण नेत्र होकर वे गद्गद कण्ठ से प्रत्युत्तर दिये कि मैं सर्वथा अज्ञ हूँ। दूसरे (बीथी) को छोड़कर आपकी बीथी में भिक्षा लेने के लिए आता हूँ। आप जैसे महान् पुरुष यहाँ विराजमान हैं, फिर आप मुझसे विलक्षण प्रश्न पूछ रहे हैं, मैं क्या कहूँ। आपके पिताजी के तथा श्रीरामानुजस्वामी जी के प्रवचन मैं खूब सुना हूँ, उन महापुरुषों ने

भगवान् श्रीमन्नारायण ही परमतत्त्व हैं, उनके पादारविन्द में की जाने वाली शरणागति ही हितकर है और उनकी सेवा ही परम पुरुषार्थ है। उनके उपदेश का मैं बार-बार स्मरण करता रहता हूँ। यह सुनकर भट्टर स्वामी आनन्द सागर में निमग्न हो गये और उनका तीर्थ लेकर पीताम्बर, दक्षिणा आदि से खूब सत्कार पूर्वक उन्हें विदा किये। तत्पश्चात् पराशर स्वामी ने अपने शिष्यों को देखकर कहा कि तुमने स्पष्ट देखा ना कि इन दोनों सन्तों का निश्चय कैसा है। अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने मात्र से क्या लाभ है और कुछ भी नहीं पढ़ने से कौन सी आपत्ति आयेगी। शास्त्र पढ़ना और तत्त्व निश्चय करना ये दोनों अलग-अलग चीजें हैं। इसे स्वामी जी ने सिद्धकर दिया कि प्रथम आने वाले महात्मा विद्वान् हैं, परन्तु उन्हें तत्त्व का निर्णय नहीं हो पाया। तब उनकी विद्वता किस काम की। इसलिये उन्हें तुम शिष्यों से एक मुट्ठी चावल भिक्षा दिला दिया करता था और दूसरे सन्त कम पढ़े लिखे हैं, परन्तु उन्हें परतत्त्व नारायण ही हैं। इसका पूर्ण ज्ञान है। इसलिए मैं प्रवचन से उठकर उन्हें हृदय में लगाकर समादर पूर्वक भिक्षा दिया करता था।

मानव को अपनी सारी क्रिया करते हुए, उस परमतत्त्व श्रीमन्नारायण का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। जिससे संसार के सारे कष्टों से मुक्ति मिल जाती है।

कर लो नारायण से प्यार, वे हैं दुनिया में सार।
ऐसी काया मिले न बारम्बार।।

रामचरित मानस में दार्शनिक तत्त्व

सम्पूर्ण तुलसी साहित्य में रामचरित मानस का स्थान अन्यतम है। रामचरित मानस ने एक ओर तो बड़े-बड़े विद्वानों को प्रभावित किया है, वहीं पर दूसरी ओर सामान्यजन को भी प्रेरणा दिया है। यह कथ्य, शिल्प, भाव और भाषा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। इस महिमामण्डित ग्रन्थ में भक्ति, काव्य और दर्शन की त्रिवेणी आद्यान्त प्रवाहित होती है।

रामचरितमानस में भक्ति की महानता सर्वोपरि है, उस भक्ति को परिपुष्ट करने के लिए ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के लिए दार्शनिक-चिन्तन। भक्ति-ज्ञान के बिना अधूरी है और यह ज्ञान बिना दार्शनिक चर्चा का अपना कोई अर्थ नहीं रखता। गोस्वामी तुलसीदास जी की दार्शनिक सिद्धान्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों को सहज सरल एवं सुबोध रूप प्रदान कर प्रसतुत किये हैं। अब हम विभिन्न बिन्दुओं को दृष्टिकोण में रखकर तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

राम-तुलसी के आराध्य और रामचरितमानस के प्रतिपाद्य भगवान नारायण राम हैं। जिनकी महिमा वेदों, उपनिषदों एवं शास्त्रों में निर्गुण, निराकार एवं अजरूप में निरूपित किया गया है। वही निर्गुण, निराकार, अजन्मा भगवान् श्रीमन्नारायण भक्तों के प्रेमवश दशरथनन्दन राम के रूप में सगुण रूप धारण करते हैं।

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेमबस सगुन सो होई।।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने अवतार के विषय में अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! जब जब पृथ्वी पर धर्म का ह्रास होने लगता है और अधर्म की वृद्धि होने लगती है तो उस समय धर्म की रक्षा और भक्तों के

परित्राण के लिए अवतरित होता हूँ। इसी बात को तुलसीदास ने अपने काव्य रामचरित मानस में सहज, भावपूर्ण शैली में उद्धृत किया है।

जब जब होई धरम की हानि।
बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।।
तब-तब प्रभु धरि मनुज सरीरा।
हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा।।

माया—ब्रह्म श्रीमन्नारायण अपनी योगमाया के साथ इस धरती पर अवतरित होते हैं। ब्रह्म की यह योगमाया राम के साथ सीता के रूप में लीलारत होती हैं। सीता और राम 'गिरा अरथ जल बिचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न'। रामप्रिया जानकी में जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार की शक्ति निहित है।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।

यद्यपि यह माया जगत् का सृजन, पालन और संहार करने में सक्षम है। तथापि उसे श्रीराम रूपी ब्रह्म के अधीन रहना पड़ता है और वह उन्हीं का आलोक पाकर जगत् का कार्य संचालन करती है। ब्रह्म की शक्ति के रूप में माया का विवेचन करने के अतिरिक्त लौकिक माया को भी गोस्वामी जी ने बड़े सरल ढ़ंग से समझाया है। उनके अनुसार व्यवहार में जो अपना और परायापन है, वही माया है।

मैं अरू मोर तोर तैं माया।
जेहि बस किन्हें जीव निकाया।।

माया के दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। विद्यामाया मनुष्यों की सहायिका होती है, किन्तु अविद्या माया तो सभी जीवों को परेशान करती है, इसके तो बहुत काफी कटक (सेना) है, क्योंकि यह अकेले कार्य नहीं करतीं। इससे शिव और ब्रह्मा भी डरते हैं, तो साधारण जीवों की क्या बात करना है।

सिव चतुरानन जाहिं डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं।।

अविद्या माया इतनी बलवती होने पर भी वह रघुवीर की दासी ही है, वस्तुतः यह रामभक्त को ज्यादा परेशान करती ही नहीं, रामभक्त के निकट जाने का इसे साहस ही नहीं है।

जीव—जो माया, ईश्वर और स्वयं अपने आप के विषय में नहीं जानता, वही जीव है।

माया ईस न आप कह जान कहिय सो जीव।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने जीव की यह सुगम परिभाषा दिया है। अज्ञानता जीव का सहज धर्म है। मात्रा के कारण जीव तोते और बंदर की तरह फँसा रहता है।

ईश्वर अंस जीव अविनासी।
चेतन अमल सहज सुख रासी।।
सो माया बस परयो गोसाईं।
बन्ध्यो कीर मरकट की नाई।।

जीव तो चेतन, अमल और पवित्र होता है, किन्तु माया के कारण उसमें सारे कलुष मिल जाते हैं, जैसे वर्षा का जल जब तक पृथ्वी पर नहीं गिरता है, तब तक वह पवित्र और निर्मल रहता है।

भूमि परत भा डाबर पानी।
जिमि जीवहि माया लपटानी।।

ऐसी ही स्थिति जीवात्मा की है, किन्तु चौरासी लाख योनियों से भटकता हुआ जीव पर जब कभी भगवान की दृष्टि पड़ जाती है, तभी मानव जीवन मिलता है।

आकर चारि लाख चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जीव अविनासी।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा।

काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।।

जीव का सच्चा स्वार्थ इसी में है कि वह मन कर्म और वचन से रामचरण कमल में ही भक्ति करे ।

स्वारथ सांच जीव कर एहा ।
मन क्रम बचन राम पर नेहा ।।

ज्ञान भक्ति—गोस्वामी जी ने ज्ञान और भक्ति का विशिष्ट निरूपण रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में किया है। वे ज्ञान को भक्ति का विरोधी नहीं, वरन पूरक मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं है, दोनों सांसारिक कष्टों को दूर करते हैं। दोनों का लक्ष्य एक ही है—जीव के हृदय में स्थित मोहरूपी अन्धकार दूर करना, अन्धकार दूर करने के लिए प्रकाश चाहिए।

प्रकाश दीपक से प्राप्त हो सकता है और मणि से भी। तुलसीदास ने ज्ञान दीपक और भक्ति मणि को साङ्गरूपक के माध्यम से समझाने की चेष्टा की है। ज्ञान दीपक से आलोक प्राप्त करने में बड़ा झमेला करना पड़ता है। सात्त्विक श्रद्धा रूपी गौ के धर्म रूपी दूध से विज्ञान रूपी घी तैयार हो और फिर चित्त के दिये में उसे जलाया जाए, तब कहीं प्रकाश की सम्भावना बनती है। इससे हृदय में स्थित मोह रूपी अन्धकार दूर होता है, किन्तु यह विषय वासना रूपी विचार (हवा) से कब यह दीपक बूझ सकता है, इसके सम्बन्ध में कोई नहीं जानता और फिर इससे प्रकाश पाना कठिन है।

हृदय के मोहान्धकार को हटाने की दूसरी प्रक्रिया भी रामचरित मानस में भक्तिमणि है। भक्तिमणि के निर्मल प्रकाश से यह अन्धकार दूर किया जा सकता है। यह सुगम मार्ग है। वेद पुराण रूपी पावन पर्वत रामकथा की खान में खोजने से यह मणि मिल जाती है। इसके निर्मल आलोक में मोहान्धकार दूर करना ज्यादा आसान है।

ज्ञान-भक्ति की चर्चा करके गोस्वामी जी अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। वे ज्ञान को आदर करते हैं, किन्तु वे भक्ति के समान सुगम नहीं मानते। यह भक्ति ही तुलसी का अभीष्ट है और सम्पूर्ण तुलसी साहित्य का प्राण, समस्त तीर्थ, व्रत, जप, तप और दान सबका फल हरिभक्ति ही है ।

जहँ लगि साधन वेद वखानि ।
सब कर फल हरिभगति भवानी ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामी जी ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किये हैं, किन्तु भगवान् श्रीराम को सबसे बड़े और अपने को सबसे लघु मानते हैं

राम से बड़ों न कोय मोसो कौन छोटो ।
राम से खरो न कोय मोसो कौन खोटो ।।

समस्त सृष्टि श्रीराम की ही है, इसलिए भक्त कवि सबके प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करता है।

सीय राम मय सब जग जानी ।
करौं प्रनाम जोड़ि जुग पानी ।।

गृहारम्भ-मुहूर्त्त

१. श्रावण-कृष्ण-द्वितीया बुधवार दिनाङ्क २८-०७-२०१३ को प्रातः ०७:१५ से ०९:२० तक।
२. श्रावण-शुक्ल-पूर्णिमा बुधवार दिनाङ्क २१-०८-२०१३ को दिन में (प्रातः) ०५:३० से ०७:३३ तक
३. अगहन-कृष्ण-तृतीया बुधवार दिनाङ्क २०-११-२०१३ को दिन में ०८:४० से १०:४५ तक।
४. अगहन-शुक्ल-दशमी गुरुवार दिनाङ्क १२-१२-२०१३ को दिन में ०७:०८ से ०९:१० तक।
५. फाल्गुन-कृष्ण-द्वितीया सोमवार दिनाङ्क १७-०२-२०१४ को दिन में १२:४३ से ०२:५६ तक पुनः ०५:१५ से ०७:२८ तक रात्रि।
६. फाल्गुन-शुक्ल-एकादशी बुधवार दिनाङ्क १२-०३-२०१४ को सन्ध्या में ०३:४० से ०६:०० तक।

●

नूतन गृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. माघ-शुक्ल-षष्ठी बुधवार दिनाङ्क ०५-०२-२०१४ को दिन में ७:०० से ८:३० तक।
२. फाल्गुन-कृष्ण-द्वादशी बुधवार दिनाङ्क २६-०२-२०१४ को दिन में १०:१४ से १२:९ तक पुनः ४:४२ से ६:५५ तक।
३. फाल्गुन-शुक्ल-षष्ठी शुक्रवार दिनाङ्क ०७-०३-२०१४ को रात्रि में ६:३६ से ८:३३ तक।
४. फाल्गुन-शुक्ल-सप्तमी शनिवार ०८-०३-२०१४ को दिन में ९:३५ से ११:३० तक (भद्रापरिहारपूर्वक) पुनः ४:३ से ६:१६ तक।

●

जीर्णादि गृहप्रवेश-मुहूर्त्त

१. श्रावण-कृष्ण-एकादशी शुक्रवार दिनाङ्क ०२-०८-२०१३ को प्रातः ६:३० से ८:४६ तक।
२. श्रावण-शुक्ल-षष्ठी सोमवार दिनाङ्क १२-०८-२०१३ को प्रातः ५:५४ से ८:६ तक।
३. श्रावण-शुक्ल-त्रयोदशी सोमवार दिनाङ्क १९-०८-२०१३ को प्रातः ५:३ से ७:४० तक। पुनः १:१७ से २:४७ तक।
१. कार्त्तिक-कृष्ण-द्वादशी गुरुवार दिनाङ्क ३१-१०-२०१३ को दिन में १० से १२:५ तक।
२. कार्त्तिक-शुक्ल-पञ्चमी शुक्रवार दिनाङ्क ०८-११-२०१३ को रात्रि में ७:५३ से १०:६ तक।
३. कार्त्तिक-शुक्ल-सप्तमी शनिवार दिनाङ्क ०९-११-२०१३ को दिन में ९:२४ से ११:२९ तक।
४. कार्त्तिक-शुक्ल-एकादशी बुधवार दिनाङ्क १३-११-२०१३ को रात्रि में ८:४६ से ९:४६ तक।
५. कार्त्तिक-शुक्ल-द्वादशी गुरुवार दिनाङ्क १४-११-२०१३ को दिन में १२:५७ से २:२७ तक।
६. कार्त्तिक-शुक्ल-त्रयोदशी शुक्रवार दिनाङ्क १५-११-२०१३ को दिन में ९ से १०:३४ तक।
७. अगहन-कृष्ण-एकादशी शुक्रवार दिनाङ्क २९-११-२०१३ को दिन में ८:३१ से १०:७ तक।
८. अगहन-कृष्ण-द्वादशी शनिवार दिनाङ्क ३०-११-२०१३ को प्रातः ७:५८ से ९:३५ तक।

●

द्विरागमन-मुहूर्त्त

१. **पश्चिम से पूर्व अग्नि से वायव्य नैर्ऋत्य से ईशान कोण के लिए—**
अगहन-कृष्ण-तृतीया बुधवार दिनाङ्क २०-११-२०१३ को प्रातः ९:२४ से ८:३९ तक।
अगहन-कृष्ण-पञ्चमी शुक्रवार दिनाङ्क २२-११-२०१३ को दिन में १:५५ से ३:२२ तक।
अगहन-कृष्ण-दशमी गुरुवार दिनाङ्क २८-११-२०१३ को प्रातः ५:०० से ५:५० तक।
अगहन-कृष्ण-एकादशी शुक्रवार दिनाङ्क २९-११-२०१३ को प्रातः ५:४६ से ८:१ तक।
अगहन-शुक्ल-द्वितीया बुधवार दिनाङ्क ०४-१२-२०१३ को दिन में १:५ से २:३० तक।

२. **अग्नि से वायव्यकोण नैर्ऋत्य से ईशान के लिए—**
अगहन-शुक्ल-सप्तमी सोमवार दिनाङ्क ०८-१२-२०१३ को दिन में १२:४३ से २:१० तक।

३. **पश्चिम से पूर्व अग्नि से वायव्य एवं नैर्ऋत्य से ईशान कोण—**
अगहन-शुक्ल-नवमी बुधवार दिनाङ्क ११-१२-२०१३ को दिन में १२:३३ से २ बजे तक।
अगहन-शुक्ल-दशी गुरुवार दिनाङ्क १२-१२-२०१३ को दिन में १२:२९ से १:५६ तक।